



महावीर जयन्ती 2595-96

जैनविद्या

नेमिचन्द्र विशेषांक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अप्रैल, 1997-98

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
डॉ. कैलाशचन्द्र जैन
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक
श्री प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं. विषय	लेखक का नाम	पृ. सं.
आरम्भिक सम्पादकीय		
1. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और उनका साहित्य-संसार	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया	1
2. कर्मसिद्धान्त के ज्ञाता नेमिचन्द्राचार्य : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व	डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल	7
3. लिंपड़ अप्पीकीरई	आचार्य नेमिचन्द्र	28
4. सिद्धान्त-शास्त्र-मर्मज्ञ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	आचार्य राजकुमार जैन	29
5. पहिया जे छप्पुरिसा	आचार्य नेमिचन्द्र	38
6. गोम्मटसार के कर्ता	श्री रमाकान्त जैन	39
7. लखणमेयं	आचार्य नेमिचन्द्र	44
8. गोम्मटसार में कर्मबन्ध कारण और निवारण	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	45
9. णत्थि य रायद्दोसा	आचार्य नेमिचन्द्र	50
10. सिद्धान्तचक्रवर्ती के गोम्मटसार का कर्मकाण्ड : कर्मसिद्धान्त का प्रामाणिक सन्दर्भ	डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव	51
11. गणितीय जिनागम गंगा के भागीरथ : आचार्य शिरोमणि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन एवं प्रो. डॉ. पद्मावतम्मा	57

जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हो।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 से.मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता —

सम्पादक

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड,

जयपुर — 302004

प्रकाशकीय

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान की शोध पत्रिका 'जैनविद्या' का यह उन्नीसवाँ अंक 'नेमिचन्द्र विशेषांक' के रूप में प्रस्तुत है।

नन्दिसंघ देशीयगण के आचार्य नेमिचन्द्र विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न, अध्यात्मवेत्ता, कर्म सिद्धान्त के पारगामी आचार्य थे।

आचार्य नेमिचन्द्र ने वृहत्काय सिद्धान्तग्रन्थों का, जिनका अध्ययन-स्वाध्याय सामान्यजन के लिए दुष्कर प्रतीत होने लगा था, सार लिपिबद्ध किया। इन्होंने गोम्मटसार (जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड), लब्धिसार, क्षपणासार व त्रिलोकसार ग्रन्थों की रचना की। इनके सारे ग्रन्थ इतने मौलिक और तात्विक हैं कि वे स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में समादृत हैं। इनके सैद्धान्तिक योगदान के लिए ही इन्हें 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया गया।

जिन विद्वानों ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस अंक को कलेवर प्रदान किया, हम उनके आभारी हैं।

इस अंक के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादाह हैं।

प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

“जैनदर्शन के मूल सिद्धान्त के रूप में ‘कषाय पाहुड’ नामक प्रथम ग्रन्थ की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य गुणधर ने की थी। इसके पश्चात् इसी शताब्दी में आचार्य द्वय पुष्पदन्त एवं भूतबली ने ‘षट्खण्डागम’ की रचना की। ये रचनाएँ केवलि-कथित करणानुयोग के कर्म-सिद्धान्त के गूढ़ रहस्यों से सम्बन्धित हैं। इन दोनों ग्रन्थों की विशद टीका/व्याख्या 9वीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन द्वारा की गई जो क्रमशः जयधवला और धवला के नाम से प्रसिद्ध हुई। ये टीका ग्रन्थ अपने आप में स्वतंत्र एवं परिपूर्ण ग्रन्थ जैसे हैं। करणानुयोग के उक्त ग्रन्थ अत्यन्त सूक्ष्म एवं जटिल हैं अतः परवर्ती आचार्यों द्वारा यह प्रयास किया जाता रहा है कि उसके रहस्य को जनसामान्य के समझने योग्य भाषा में व्यक्त किया जाये।”

“इस उद्देश्य की पूर्ति (विक्रम की) ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा की गई। उन्होंने षट्खण्डागम एवं उसकी धवला टीका तथा कषाय पाहुड एवं उसकी जयधवला टीका का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन कर उनके आधार पर ‘गोम्मटसार’ (द्वितीय नाम पंचसंग्रह) तथा ‘लब्धिसार’ ग्रन्थों की रचना की। इनके अलावा उन्होंने ‘त्रिलोकसार’ की भी रचना की। इन रचनाओं में नेमिचन्द्राचार्य ने गागर में सागर भरने की कहावत चरितार्थ की है।”

“वे प्रतिभासम्पन्न, मेधावी, अध्यात्म-रसिक एवं (जैनदर्शन में) कर्म-सिद्धान्त के पारगामी आचार्य थे। वे गंगवंशी राजा राचमल्ल के मंत्री व सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे।”

“नेमिचन्द्राचार्य ने आचार्य अभयनन्दि, वीरनन्दि एवं इन्द्रनन्दि को अपना गुरु बताया है।”

“आचार्य नेमिचन्द्र (विक्रम की 11वीं श.) के समय यद्यपि सिद्धान्त ग्रन्थों की पर्याप्त रूपेण उपलब्धता थी, किन्तु वे बृहत्काय और जनसामान्य के लिए न केवल दुर्लभ अपितु दुरूह भी थे। जनसामान्य द्वारा बृहत्काय ग्रन्थों का अध्ययन-स्वाध्याय दुष्कर प्रतीत हो रहा था, जिससे प्रेरित होकर आचार्य नेमिचन्द्र जैसे विद्वत्प्रवर ने बृहत्काय सिद्धान्त ग्रन्थों का सार लिपिबद्ध किया।”

“प्राचीनकाल में किसी शास्त्रीयमूल ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाएँ इतनी मौलिक और तात्त्विक होती थीं कि उन्हें एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में पण्डितों का समादर प्राप्त होता था।”

“नेमिचन्द्राचार्य ने करणानुयोग के गोम्मटसार, लब्धिसार एवं त्रिलोकसार ग्रन्थों की रचना की। उनके इस योगदान के कारण उन्हें ‘सिद्धान्तचक्रवर्ती’ की उपाधि से विभूषित किया गया।”

“षट्खण्डागम की धवला टीका का मंथन करके आचार्य नेमिचन्द्र ने ‘गोम्मटसार’ ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है - जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड।”

“नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने महाकर्मप्रकृतिप्राभृत से उद्धृत प्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थ के जीवस्थान आदि छः खण्डों के प्रमेयांश का उद्धार करके गोम्मटसार अपरनाम पंचसंग्रह की रचना की थी। इन टीकाओं से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ की रचना चामुण्डराय के निमित्त हुई थी।

चामुण्डराय का घरेलू नाम गोम्मटराय था, इनके निमित्त रचना करने के कारण इस ग्रन्थ का नाम 'गोम्मट-संग्रह' 'गोम्मट-संग्रह-सूत्र' 'गोम्मट-सूत्र' अर्थात् गोम्मटराय के निमित्त बनाया गया संग्रह सूत्र दिया है।''

“ 'गोम्मटसार' ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जीव तत्त्व एवं कर्म-सम्बन्धी विवेचना उसका मुख्य प्रतिपाद्य है। जीवकाण्ड में जीव से सम्बद्ध अनेक प्रकरणों का वर्णन है। इसमें जीवों के भेद-प्रभेद बतलाते हुए उनके एक से दस तक चौदह, उन्नीस, सत्तावन और अट्टानवे भेद कहे गये हैं। इन्हें वे जीव-समास कहते हैं।''

“ लेश्या सम्बन्धी विस्तृत वर्णन गोम्मटसार के जीवकाण्ड में किया गया है जो जैनधर्म के मौलिक चिन्तन की ओर संकेत करता है।''

“ कर्मकाण्ड में कर्मों की निर्जरा एवं तत्त्वों के स्वरूप के अवधारण-निश्चय का वर्णन है। कर्मकाण्ड में संसार दुःखदायक या सुखप्रतिबंधक कर्म सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन किया है।''

“ 'गोम्मट' शब्द मराठी में एक विशेषण है और उसका अर्थ है - साफ, सुन्दर, आकर्षक अच्छा आदि। कोंकणी भाषा में 'गोम्टो' शब्द है और उसका वही अर्थ है जो मराठी में है। 'गोम्मट' शब्द का अर्थ है - उत्तम आदि। कन्नड़ भाषा में भी 'गोम्मट' शब्द उत्तम के अर्थ में तथा विशेषण एवं नाम के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।''

“ आचार्य नेमिचन्द्र की त्रिलोकसार जैन-दर्शन के लोकानुयोग साहित्य से सम्बन्धित है जिसमें भूगोल-खगोल, ज्योतिष-निमित्त एवं ग्रह-गणित आदि का विस्तृत विवरण दिया है। नाम के अनुरूप इस ग्रन्थ में तीन लोक अर्थात् ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक का वर्णन किया है।''

“ ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा-सूर्य-चन्द्र की आयु, विमान, गति, परिवार आदि का भी सांगोपांग वर्णन पाया जाता है। त्रिलोक की रचना के सम्बन्ध में सभी प्रकार की जानकारी इस ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है।''

“ त्रिलोकसार में लोक की सीमाएँ, उसके ज्यामितीय खण्ड, चारों ओर से वेष्टित पदार्थ, भौगोलिक, ज्योतिष आदि के विवरण भी गणित द्वारा दिये गये हैं। ऋतु, राहू, कर्क, मकर राशियाँ, मध्यप्रदेश, धाराएँ, शलाका गणन के सभी सिद्धान्त आदि नवीन विवरण हैं।''

“ अध्यात्म शक्ति से अर्जित ज्ञान को त्रिलोकसार में समाविष्ट किया गया है।''

“ लब्धिसार आचार्य नेमिचन्द्र की अन्य कृति है जो गोम्मटसार का उत्तर भाग समझना चाहिए। लब्धिसार में जीव के कर्म-बन्ध, कर्मों से छूटने की प्रक्रिया अर्थात् लब्धिरूप सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि की प्रक्रिया सविस्तार दर्शायी है।''

“ छह सौ तिरपेण गाथाओं वाले 'क्षपणासार' में कर्मों को क्षय करने की विधि का निरूपण किया गया है।''

“ जिनागम में गणित की प्रतिष्ठा कराने का सर्वाधिक श्रेय आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को जाना चाहिये। उन्होंने आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए जैनधर्म के सारभूत पूर्वों के कर्म-सिद्धान्त विषयक जटिलतम ज्ञानांश को गणितीय सूत्रबद्ध रचनाओं में पिरो दिया।''

“जड़ और चेतन का समवाय संसार है। संसरणशीलता संसार का मूल स्वभाव है। इस स्वभाव को कर्म सक्रिय रखते हैं। दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय नामक वसु कर्मों में संसार के अन्य सभी कर्मकुल अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। जीव इन्हीं कर्मों के कारण सांसारिक चक्रमण में अनादिकाल से सक्रिय है। जन्म-मरण के दारुण दुःखों को भोग रहा है।”

“जीव और उसकी पर्याय-शरीर का सम्बन्ध कृत नहीं प्राकृत है और इसलिए वह कहलाता है - प्रकृति। प्रकृति को शील और स्वभाव से भी अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार सोने में मल का अनादिकालीन सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और शरीर का सम्बन्ध भी अनादि है, इस सम्बन्ध का कोई कर्ता नहीं है।”

“कर्म-जाल में फँसकर प्राणी उससे निकलने का बार-बार प्रयास करता है पर इससे निकल पाना इतना सरल और सुगम नहीं है। इससे निकलने का एकमात्र उपाय कर्म-जाल काटना ही है।”

“प्राणी जो अनादिकाल से वसु कर्मों के बंध में बँधता चला आ रहा है उसके निवारणार्थ उसे चारित्र-साधना करने के लिए तदनुसार चर्या करना परम आवश्यक होता है। सारांश में कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व कर्म-बंध का मुख्य कारण है और निवारण का मुख्य आधार है - सम्यक्त्व।”

अभी तक यह धारणा चली आ रही थी कि ‘द्रव्यसंग्रह’ या ‘बृहद्द्रव्यसंग्रह’ के रचयिता ‘नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती’ हैं पर अब नये प्रमाणों के आलोक में यह मान्यता परिवर्तित हो गई है। समीक्षक विद्वानों का अभिमत है कि द्रव्यसंग्रह के रचयिता ‘नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव’ या ‘नेमिचन्द्र मुनि’ हैं।

बृहद्द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव ने ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा है कि मालवदेश में धारा नगरी का स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ भोजदेव था। उससे सम्बद्ध मण्डलेश्वर श्रीपाल के आश्रम नामक नगर में श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर के चैत्यालय में भाण्डागार सोमनामक राजश्रेष्ठि के लिए श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने ‘द्रव्यसंग्रह’ नामक ग्रन्थ रचा।

“नेमिचन्द्राचार्य द्वारा चुनी एवं रची गई सामग्री सीधी गणितीय थी, विश्वरचना सम्बन्धी तथा सूक्ष्मतम जगत् के रहस्यों से भरी वैज्ञानिक नियंत्रण प्रणाली रूप विलक्षण थी। अतः वह अपने आप में भारतीय अन्य मतों से अथवा विश्व के अन्य मतों से विलग विशालरूप में पनपती चुनौतीरूप में उतर आयी।”

जैनविद्या का यह अंक ‘नेमिचन्द्र विशेषांक’ के रूप में प्रकाशित है। जिन विद्वान् लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस अंक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया उन सभी के प्रति हम आभारी हैं।

संस्थान समिति, सहयोगी सम्पादक, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के प्रति आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. धन्यवादाई है।

डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और उनका साहित्य संसार

— डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

दक्षिण में विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में नेमिचन्द्र नाम के आचार्य हुए हैं उनकी उपाधि 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' थी। सिद्धान्तग्रन्थों के अभ्यासी को सिद्धान्तचक्रवर्ती का पद प्राचीन समय से ही दिया जाता रहा है। आचार्य नेमिचन्द्र ने धवल-सिद्धान्त का मंथन करके 'गोम्मटसार' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया और जयधवल-सिद्धान्त का मंथन करके 'लब्धिसार' ग्रन्थ की रचना की। अपने 'गोम्मटसार' के 'कर्मकाण्ड' में आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं -

जह चक्केण य चक्की छक्खण्डं साहियं अवग्घेण।
तइ मइचक्केण मया छक्खण्डं साहियं सम्मं॥¹

अर्थात् जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न से भारतवर्ष के छह खण्डों को बिना किसी विघ्न-बाधा के साधता है, या अपने अधीन करता है उसीतरह मैंने अपने बुद्धिरूपी चक्र से षट्खण्डों को या षट्खण्डागम सिद्धान्त को सम्यक्क्रीति से साधा।

आचार्य नेमिचन्द्र देशीयगण के हैं। आचार्यश्री ने अभयनंदि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को अपना गुरु बतलाया है। 'कर्मकाण्ड' में दो स्थानों पर आचार्यश्री ने इन तीनों को नमन किया

है। एक स्थल पर लिखते हैं कि जिसके चरणों के प्रसाद से वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि का वत्स्य अनन्त संसाररूपी समुद्र से पार हो गया उन अभयनन्दि गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ -

जस्स य पाय पसाए णणंत संसार जलहिमुत्तिण्णते ।
वीरिंदणं दिवच्छो णमामि तं अभयणंदि गुरुं ॥²

अन्य स्थल पर आचार्यश्री लिखते हैं कि अभयनन्दि को श्रुत-समुद्र के पारगामी इन्द्रनन्दि गुरु को और वीरनन्दिनाथ को नमस्कार करके प्रकृतियों के प्रत्यय-कारण को कहूँगा -

णमिऊण अभयणंदि सुद पारगिंदणंदि गुरुं ।
वर वीर णंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥³

'लब्धिसार' में आचार्यश्री ने लिखा है कि वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि के वत्स्य और अभयनन्दि के शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्द्र ने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धि का कथन किया -

वीरिंदणं दिवच्छेणाप्पसुदेण भयणंदिसिस्सेण ।
दंसण चरित्रलब्धी सु सूयिमा णेमिचंदेण ॥⁴

किन्तु 'त्रिलोकसार' में उन्होंने अपने को अभयनन्दि का वत्स्य मात्र लिखा है। शेष दोनों आचार्यों का कोई उल्लेख नहीं किया -

इदि णेमिचंदमुणिणाणप्प सुदेण भयणं दिवच्छेण ।
रइओ तिलोयसारो खमंतु तं बहु सुदाइरिया ॥⁵

उक्त ग्रन्थों की प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि आचार्य नेमिचन्द्र के गुरु थे। इन तीनों में से वीरनन्दि तो 'चन्द्रप्रभचरित' के रचयिता ज्ञात होते हैं क्योंकि उन्होंने 'चन्द्रप्रभचरित' की प्रशस्ति में अपने को अभयनन्दि का शिष्य बतलाया है - "मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः सकलगुण समृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः। अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी स्वमहिमजित सिन्धु भव्य लौकेकबन्धुः। भव्याम्भोज विबोधनोद्यतमते भास्वत्समानत्विषः शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्री वीरनन्दीत्यभूत्।"⁶ अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र के गुरु होने चाहिए क्योंकि कालगणना से उनका वही समय आता है। इसप्रकार अभयनन्दि इन सबमें ज्येष्ठ तथा गुरु होने चाहिए और वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र उनके शिष्य। नेमिचन्द्र सम्भवतया सबसे छोटे थे और उन्होंने अभयनन्दि गुरु से अध्ययन करने से पूर्व वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि से भी अध्ययन किया था। वस्तुतः आचार्य नेमिचन्द्र के गुरु अभयनन्दि थे और वीरनन्दि व इन्द्रनन्दि उनके गुरुभाई थे।

आचार्य नेमिचन्द्र का शिष्यत्व चामुण्डराय ने ग्रहण किया था। चामुण्डराय गंगवंशी राजा राचमल्ल का प्रधानमंत्री और सेनापति था। उसने अनेक समरों में विजयश्री हासिल की थी अस्तु वह 'वीरमार्तण्ड' कहलाया। 'गोम्मटसार' में सम्मत्तरयणनिलय⁷ - सम्यक्त्व रत्ननिलय, गुणरयण भूषण⁸ - गुणरत्नभूषण, सत्ययुधिष्ठिर⁹, देवराज¹⁰ आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है। चामुण्डराय का घरू नाम गोम्मट था। इसीलिए चामुण्डराय के द्वारा स्थापित बाहुबलि की मूर्ति गोमटेश्वर

के नाम से प्रसिद्ध हुई। नेमिचन्द्राचार्य ने अपने 'गोम्मटसार' नामक ग्रन्थ की रचना इसी 'गोम्मट' उपनामधारी चामुण्डराय के लिए की थी। इसप्रकार गंगनरेश राचमल्ल के प्रधान सचिव और सेनापति चामुण्डराय का आचार्य नेमिचन्द्र के साथ अभिन्न सम्बन्ध रहा है। आचार्य नेमिचन्द्र आगमशास्त्र के अभिज्ञाता थे। गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार आचार्यश्री की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

गोम्मटसार

षट्खण्डागम की धवलाटीका का मंथन करके आचार्य नेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार' ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है - जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। 'जीवकाण्ड' में सात सौ चौंतीस गाथाएँ हैं और कर्मकाण्ड' में नौ सौ बासठ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ पर दो संस्कृत टीकाएँ - नेमिचन्द्र कृत 'जीव प्रदीपिका' और अभयचन्द्र कृत 'मन्दप्रबोधिनी' भी लिखी गई हैं। गोम्मटसार की केशववर्णा द्वारा एक कन्नड़वृत्ति भी उपलब्ध है। टोडरमलजी ने 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' नाम की वचनिका लिखी है। टीकाकारों ने गोम्मटसार का एक नाम और भी दिया है 'पंचसंग्रह'।¹¹ अमितगति के पंचसंग्रह को देखकर और इसमें उसके अनुरूप कथन देखकर इस संज्ञा से अभिहित किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने तो ग्रन्थ के दूसरे भाग के अन्त में उसका नाम 'गोम्मट'¹² संग्रह सूत्र' अथवा 'गोम्मटसूत्र' दिया है। गोम्मटसार नाम भी टीकाओं में प्राप्त है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार' के प्रथम भाग की गाथा में 'जीवस्स परुवणं वोच्छं' लिखकर जीव की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा की है और दूसरे भाग की पहली गाथा में कर्मप्रकृतियों का कथन करने की प्रतिज्ञा की है। अतः जीव और कर्मविषयक कथनों के कारण प्रथम भाग को जीवकाण्ड और दूसरे भाग को कर्मकाण्ड की संज्ञा दे दी गई किन्तु आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ को दो भागों में ही विनिर्मित किया है क्योंकि प्रथम भाग के अन्त में उस गोम्मट राजा की जयकामना की गई है जिसके लिए 'गोम्मटसार' रचा गया था तथा दूसरे भाग के अन्त में चूँकि वह गोम्मटसार ग्रन्थ का अन्तिम भाग है इसलिए विशेषरूप से गोम्मट का गुणगान किया गया है। 'गोम्मटसार' के 'जीवकाण्ड' की दूसरी गाथा में उन बीस प्ररूपणाओं को गिनाया है जिनके द्वारा जीव का कथन किया गया है। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग विषयक बीस प्ररूपणाएँ हैं। जीवसमास का कथन अड़तालीस गाथाओं में है। उसमें स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना और कुलों के द्वारा जीव समास का कथन विस्तार से किया है। पर्याप्ति का कथन ग्यारह गाथाओं में, प्राणों का कथन पाँच गाथाओं में, संज्ञाओं का कथन पाँच गाथाओं में है, केवल स्वामियों¹³ का कथन 'जीवकाण्ड' में विशेष है। 'जीवकाण्ड' के मार्गणाओं के कथन में एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें मार्गणाओं में जीवों की संख्या का कथन भी किया गया है। प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का तथा इन्द्रियों में लगे हुए आत्मप्रदेशों का कथन विस्तार से किया है। कायमार्गणा के कथन में कई बातें विशिष्ट हैं, जैसे - त्रसों का वासस्थान, निगोदिया जीवों से अप्रतिष्ठित शरीर और स्थावर जीवों के शरीर का आकार। योगमार्गणा में इसी प्रकार कई विशिष्ट कथन हैं। कषायमार्गणा के कथन में 'जीवकाण्ड' में शक्ति, लेश्या और आयुबन्धाबन्ध की अपेक्षा कषाय के भेदों का कथन किया

गया है। जीवकाण्ड में ज्ञानमार्गणा का कथन तो बेजोड़ है। श्रुतज्ञान के बीस भेद जो उसमें बतलाए हैं उनका कथन षट्खण्डागम के वेदनाखण्ड और उसकी धवला टीका से लिया गया है। यह कथन श्वेताम्बर साहित्य में सुलभ नहीं है। अवधिज्ञान के भेदों का कथन भी बहुत विस्तृत है। इस काण्ड में लेश्याओं का कथन बहुत विस्तार से किया है। सम्यक्त्व मार्गणा में सम्यक्त्व के भेदों का तथा उनके सम्बन्ध से छह द्रव्यों और नौ पदार्थों का कथन विस्तार लिये हुए है। इसमें तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्याय के सभी आवश्यक कथन संगृहीत हैं। इसतरह 'जीवकाण्ड' में गागर में सागर भर दिया है। यह काण्ड व्यवस्थित, संतुलित और परिपूर्ण होने के कारण दिगम्बर साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है।

'गोम्मटसार' के 'कर्मकाण्ड' के दो संस्करण - एक तो रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई का और दूसरा देवकरण शास्त्रमाला - उपलब्ध हैं। 'कर्मकाण्ड' में नौ अधिकार हैं - (1) प्रकृति समुत्कीर्तन (2) बन्धोदयसत्त्व, (3) सत्त्वस्थानभंग, (4) त्रिचूलिका, (5) स्थान समुत्कीर्तन, (6) प्रत्यय, (7) भावचूलिका, (8) त्रिकरणचूलिका और (9) कर्मस्थिति रचना। प्रकृति समुत्कीर्तन का अर्थ है - जिसमें आठों कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियों का कथन हो। अतः 'कर्मकाण्ड' में कर्मों और उनकी विविध अवस्थाओं का कथन है। इस प्रथम अधिकार में यह बतलाते हुए कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है कर्मों के आठ भेदों के नाम, उनका कार्य, उनका क्रम, उनकी उत्तर प्रकृतियों में से कुछ विशेष प्रकृतियों का स्वरूप, बन्धप्रकृतियों, उदयप्रकृतियों और सत्त्वप्रकृतियों की संख्या में अन्तर का कारण; देशघाती-सर्वघाती पुण्य और पाप प्रकृतियाँ; पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ; कर्म में निक्षेप योजना आदि का कथन छियासी गाथाओं में किया गया है। 'बन्धोदय सत्त्वाधिकार' में कर्मों के बन्ध उदय और सत्त्व का कथन है। 'सत्त्वस्थानभंग' प्रकरण में सत्त्वस्थान का भंगों के साथ कथन है - प्रत्येक गुणस्थान में प्रकृतियों का सत्त्वस्थान कितने प्रकार से सम्भव है और उसके साथ जीव किस आयु को भोगता है और परभव की किस-किस आयु को बाँधता है। 'त्रिचूलिका अधिकार' में तीन चूलिकाएँ हैं - नवप्रश्न चूलिका, पंचभागहार चूलिका और दशकरण चूलिका। नवप्रश्न चूलिका में नौ प्रश्नों का समाधान किया गया है। वे नौ प्रश्न इसप्रकार हैं - (1) उदयव्युच्छित्ति के पहले बन्ध की व्युच्छित्ति किन प्रकृतियों की होती है? (2) उदय व्युच्छित्ति के पीछे बन्ध की व्युच्छित्ति किन प्रकृतियों की होती है? (3) उदय व्युच्छित्ति के साथ बन्ध की व्युच्छित्ति किन प्रकृतियों की होती है? (4) जिनका अपना उदय होने पर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं? (5) जिनका अन्य प्रकृति का उदय होने पर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं? (6) जिनका अपना तथा अन्य प्रकृति का उदय होने पर बन्ध हो, वे प्रकृतियाँ कौनसी हैं? (7) जिनका निरन्तर बंध होता है ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं? (8) जिनका सान्तरबन्ध होता है अर्थात् कभी बन्ध होता है और कभी नहीं होता, वे प्रकृतियाँ कौनसी हैं? (9) जिनका निरन्तर बन्ध भी होता है और सान्तरबन्ध भी होता है वे प्रकृतियाँ कौनसी हैं? इन नौ प्रश्नों के समाधान भी इस चूलिका में दिए गए हैं। 'पंचभागहार चूलिका' में उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम इन पाँच भागहारों का कथन है। इन भागहारों के द्वारा जीवों के शुभाशुभ कर्म अपने परिणामों के निमित्त से अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं। जैसे शुभ परिणामों का निमित्त

पाकर बँधा हुआ असातावेदनीय कर्म साता वेदनीयरूप परिणत हो जाता है। किस-किस कर्मप्रकृति में कौन-कौन भागहार सम्भव है और किस-किस भागहार के अन्तर्गत कौन-कौन प्रकृतियाँ हैं यह सब भी कथन किया गया है। साथ ही चूँकि पाँचों भागहार एक भाजक राशि के तुल्य हैं अतः उनका परस्पर में अल्पबहुत्व भी बतलाया गया है। 'दशकरण चूलिका' में बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपसम, निधत्ति और निकाचना इन दस करणों का स्वरूप कहा गया है और बतलाया गया है - कौन करण किस गुणस्थान तक होता है। करण नाम क्रिया का है - कर्मों में ये दस क्रियाएँ होती हैं। कर्मप्रकृति में इन करणों का स्वरूप बहुत विस्तार से वर्णित है।

'बन्धोदय सत्वयुक्त स्थान समुत्कीर्तन' में आठों मूलकर्मों को लेकर और फिर प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों को लेकर बन्धस्थानों, उदयस्थानों और सत्वस्थानों का कथन किया गया है। 'प्रत्ययाधिकार' में कर्मबन्ध के कारणों का कथन है। मूलकारण चार हैं - मिथ्यात्व, अवरिति, कषाय और योग। इनके भेद क्रम से पाँच, बारह, पच्चीस और पन्द्रह-कुल सत्तावन होते हैं। गुणस्थानों में इन्हीं मूल और उत्तर प्रत्ययों का कथन इस अधिकार में किया गया है कि किस गुणस्थान में बन्ध के कितने प्रत्यय होते हैं और उनके भङ्गों का भी निर्देश किया है। 'भावचूलिका' में औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावों का तथा इनके भेदों का कथन करके उनके स्वसंयोगी भंगों का कथन गुणस्थानों में किया गया है। 'त्रिकरणचूलिका' में अधःकरण और अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों का स्वरूप कहा गया है। इस अधिकार की विशेषता यह है कि इसमें पहले दोनों करणों के स्वरूप को अंक संदृष्टि के द्वारा समझाया गया है। 'कर्मस्थितिरचनाधिकार' में प्रतिसमय बँधनेवाले कर्म-परमाणुओं का आठों कर्मों में विभाजन होने के पश्चात् प्रत्येक कर्मप्रकृति को प्राप्त कर्मनिषेकों की रचना उसकी स्थिति के अनुसार आबाधाकाल को छोड़कर हो जाती है अर्थात् बन्ध को प्राप्त हुए वे कर्मपरमाणु उदयकाल आने पर खिरने प्रारम्भ हो जाते हैं और अन्तिम स्थिति पर्यन्त खिरते रहते हैं। उनकी रचना को ही कर्मस्थिति कहते हैं उसी का कथन इस अधिकार में है।

त्रिलोकसार

एक हजार अठारह गाथाओंवाला 'त्रिलोकसार' करणानुयोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार 'तिलोयपण्णती' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' है। यह ग्रन्थ लोक-सामान्याधिकार, भवनाधिकार, व्यन्तरलोकाधिकार, ज्योर्तिलोकाधिकार, वैमानिकलोकाधिकार, मनुष्य-तिर्यकलोकाधिकार नामक छह अधिकारों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, भवनवासियों के रहने के स्थान, आवास, भवन, आयु, परिवार आदि का विस्तृत वर्णन किया है। ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा, सूर्य एवं चन्द्र के आयु, विमान, गति, परिवार आदि का भी सांगोपांग वर्णन पाया जाता है। स्वर्गों के सुख, विमान एवं वहाँ के निवासियों की शक्ति आदि का भी कथन आया है। त्रिलोक की रचना के सम्बन्ध में सभी प्रकार की जानकारी इस ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है।

लब्धिसार

यह आचार्य नेमिचन्द्र की गाथाबद्ध तीसरी रचना है। इसके दो संस्करण - एक रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई से और दूसरा हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला से प्रकाशित हैं। इस ग्रन्थ में छह

सौ उनचास गाथाएँ हैं। 'लब्धिसार' में जीव के कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय तथा प्रक्रिया बतलाई गई है। मोक्ष की पात्रता जीव में सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही मानी जाती है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ही मोक्ष प्राप्त करता है तथा सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् सम्यक्चारित्र का भी होना आवश्यक है। अतः सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की लब्धि अर्थात् प्राप्ति का कथन होने से ग्रन्थ का नाम लब्धिसार रखा गया है।¹⁴ क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि नाम की पाँच लब्धियों में से आरम्भ की चार लब्धियाँ तो सर्वसाधारण के होती रहती हैं किन्तु करणलब्धि के होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

क्षपणासार

छह सौ तिरपन गाथाओं वाले 'क्षपणासार' में कर्मों को क्षय करने की विधि का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ 'गोम्मटसार' का उत्तरार्धरूप है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि माधवचन्द्र त्रैवेद्य ने बाहुली मंत्री की प्रार्थना पर संस्कृत टीका लिखकर पूर्ण की। 'क्षपणासार' पर केवल पण्डित टोडरमल रचित भाषा-टीका ही उपलब्ध है।

इसप्रकार सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र दार्शनिक अभिज्ञाता थे। आचार्यश्री के 'गोम्मटसार' तथा 'लब्धिसार' की रचना के पश्चात् षट्खण्डागम और कषायपाहुड के साथ उनकी टीका धवला और जयधवला को भी लोग भूल-से गए हैं। परवर्तीकाल में सिद्धान्त-ग्रन्थों को जो स्थान प्राप्त था धीरे-धीरे वह आचार्य नेमिचन्द्र के 'गोम्मटसार' को मिल गया।

1. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 397।
2. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 436।
3. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 785।
4. लब्धिसार, गाथा 648।
5. त्रिलोकसार, गाथा 1018।
6. चन्द्रप्रभचरित, छंदांक 3 एवं प्रशस्ति।
7. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 1।
8. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 1।
9. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 45।
10. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 258।
11. 'गोम्मटसारनामधेय पंचसंग्रहं शास्त्रं प्रारम्भ माणः' - मन्दप्रबोधिनीटीका, पृष्ठ 3।
12. गोम्मटसंगह सुत्तं - कर्मकाण्ड, गाथा 965 और 968।
13. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 139।
14. 'सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रयोर्लब्धिः प्राप्तिर्यस्मिन् प्रतिपाद्यते स लब्धि साराख्यो ग्रन्थः।' - लब्धिसार टीका।

मंगलकलश
394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड,
अलीगढ़ - 202001 (उ.प्र.)

कर्म-सिद्धांत के ज्ञाता नेमिचन्द्राचार्य व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

— डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

जैनदर्शन बहुआयामी दर्शन हैं, जिसमें जीव-पुद्गल आदि छः द्रव्य, ब्रह्मांड, विश्व-व्यवस्था, दुःख-सुख एवं बंध-मोक्ष का स्वरूप और उससे मुक्त होने का उपाय आदि के सम्बन्ध में कारण-कार्यसहित तर्क-आधारित व्यवस्था की गई है। अनादि-अनन्त विश्व के द्रव्यों का स्वभाव या धर्म निरूपित करनेवाला जैनधर्म भी अनादि-अनन्त है। इसका प्रतिपादन तीर्थंकरों द्वारा अपने समय की आवश्यकता के संदर्भ में किया जाता रहा है। इस युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे। भगवान महावीर के उपदेश को परवर्ती आचार्यों ने चार अनुयोगों/भागों में विभक्त किया - 1. चरणानुयोग, 2. द्रव्यानुयोग, 3. करणानुयोग एवं 4. प्रथमानुयोग। इसमें चरणानुयोग का सम्बन्ध आचरण से है, द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध तत्त्वज्ञान एवं अनुभूति से है। करणानुयोग गणितात्मक कर्म-सिद्धांत एवं विश्वदर्शन से सम्बन्धित है तथा प्रथमानुयोग में तीर्थंकरों एवं अन्य शलाका (महापुरुषों) का जीवनचरित्र है। इनमें करणानुयोग का विषय अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक एवं दुरुह है।

जैन दर्शन के मूल-सिद्धांत के रूप में 'कषाय पाहुड' नामक प्रथम ग्रन्थ की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य गुणधर ने की थी। इसके पश्चात् इसी शताब्दी में आचार्य-द्वय पुष्पदन्त

एवं भूतबली ने 'षट्खण्डागम' की रचना की। यतिवृषभ आचार्य ने 'कषाय पाहुड' पर चूर्ण सूत्र लिखे। ये रचनाएँ केवली-कथित करणानुयोग के कर्म-सिद्धांत के गूढ़ रहस्यों से सम्बन्धित हैं। इन दोनों ग्रन्थों की विशद टीका/व्याख्या 9वीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन द्वारा की गई, जो क्रमशः जयधवला और धवला के नाम से प्रसिद्ध हुई। ये टीका-ग्रन्थ अपने आप में स्वतंत्र एवं परिपूर्ण ग्रन्थ जैसे हैं। जैन धर्मावलम्बियों द्वारा करणानुयोग के इन ग्रन्थों का पठन-पाठन निर्बाध चलता रहा। चूंकि करणानुयोग के उक्त ग्रन्थ अत्यन्त सूक्ष्म एवं जटिल हैं, अतः परवर्ती आचार्यों द्वारा यह प्रयास किया जाता रहा कि उसके रहस्य को जनसामान्य के समझने योग्य भाषा में व्यक्त किया जाये।

इस उद्देश्य की पूर्ति ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा की गई। उन्होंने षट्खण्डागम एवं उसकी धवला टीका तथा कषायपाहुड एवं उसकी जयधवला टीका का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन कर उनके आधार पर 'गोम्मटसार' (द्वितीय नाम पंचसंग्रह) तथा 'लब्धिसार' ग्रन्थों की रचना की। इनके अलावा उन्होंने 'त्रिलोकसार' की भी रचना की। इन रचनाओं में नेमिचन्द्राचार्य ने गागर में सागर भरने की कहावत चरितार्थ की है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा (397 में) उन्होंने घोषणा की कि जिस प्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न से छः खण्डों को निर्विघ्न साधता/जीतता है, उसी प्रकार मैंने (नेमिचन्द्र ने) बुद्धि-रूपी चक्र से जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बंधस्वामी, वेदना खण्ड, वर्गणा खण्ड एवं महाबंध - इन छः खण्डों के सिद्धांत को सम्यक् रूप से साध लिया है।

जह चक्केणयचक्की, छक्खण्डं साहियं अविग्घेण।

तह मइचक्केण मया, छक्खण्डं साहियं सम्मं॥397॥

जीवन परिचय

नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती का समय 989 ईस्वी के लगभग है। वे प्रतिभासम्पन्न, मेधावी, अध्यात्मरसिक एवं (जैनदर्शन में) कर्म-सिद्धांत के पारगामी आचार्य थे। वे गंगवंशी राजा राचमल्ल के मंत्री एवं सेनापति चामुण्डाराय के गुरु थे। चामुण्डाराय के घर का उपनाम 'गोम्मट' था। इसी से श्रवणबेलगोल में उनके द्वारा स्थापित भगवान बाहुबली की मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' (गोम्मट अर्थात् चामुण्डाराय के ईश्वर) के नाम से प्रसिद्ध हुई। नेमिचन्द्र आचार्य ने अपनी कृति का नाम भी 'गोम्मटसार' रखा, जो उनकी जिज्ञासाओं की पूर्ति हेतु बनाई थी।

चामुण्डाराय अत्यन्त पराक्रमी और वीर थे। उन्होंने अनेक युद्ध जीते थे। इस कारण उन्हें अनेक उपाधियाँ मिली थीं। वे जैनदर्शन के मर्मज्ञ, ज्ञाता एवं धर्मप्रेमी थे। गोम्मटसार ग्रन्थ में आचार्य नेमिचन्द्र ने उन्हें 'सम्यक्त्व रत्न निलय', 'गुणरत्न भूषण', 'सत्य युधिष्ठिर' एवं 'देवराज' जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया है। चामुण्डाराय ने मैसूर के श्रवणबेलगोल की विन्ध्यगिरि तराश करवाकर ई. सन् 981 (विक्रम संवत् 1038) में भगवान बाहुबली की 57 फीट ऊँची मूर्ति स्थापित की। यह मूर्ति 'दक्षिण कुक्कुटजिन' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उत्तर भारत में भरत चक्रवर्ती ने भगवान बाहुबली की मूर्ति स्थापित की थी जो 'उत्तरकुक्कुट जिन' के नाम

से पुकारी जाती थी। इसके अलावा विंध्यगिरि के सामने चंद्रगिरि पर चामुण्डराय वसति के नाम से एक सुन्दर जैन मंदिर बनवाया। इसमें एक हाथ ऊँची इंद्रनीलमणि की श्री नेमिनाथ भगवान की मूर्ति स्थापित की थी (गाथा 968)। नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार की गाथा 966 से 969 एवं 971 से 972 में चामुण्डराय उपनाम गोम्मट राजा का गुणगान किया है, जो पठनीय है। गोम्मटसार की अंतिम गाथा 972 के अनुसार वीर गोम्मट राजा ने गोम्मटसार ग्रन्थ के सूत्र की देशी भाषा में टीका की। उन्होंने वि.सं. 1035 में चामुण्डराय पुराण भी लिखा। इस प्रकार चामुण्डराय न केवल वीर सेनापति-महामात्य थे अपितु वे अध्यात्मप्रिय टीकाकार/साहित्यकार एवं समर्पित जैन श्रावक भी थे। उनका जीवन-दर्शन, जैन-धर्मावलम्बियों के लिए प्रेरणा-स्रोत है जो सेनापति होकर भी साहित्यकार थे और अहिंसा धर्म का पालन करते थे।

कृतियाँ एवं गुरु

नेमिचन्द्राचार्य ने करणानुयोग के गोम्मटसार, लब्धिसार एवं त्रिलोकसार सिद्धांत ग्रन्थों की रचना की। गोम्मटसार दो भागों में विभक्त है, वे जीवकाण्ड - कर्मकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। लब्धिसार भी लब्धिसार - क्षपणासार के नाम से जाना जाता है। उनके इस योगदान के कारण उन्हें 'सिद्धांतचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया गया।

नेमिचन्द्राचार्य ने आचार्य अभयनंदि, वीरनंदि एवं इंद्रनंदि को अपना गुरु बताया है। कर्मकाण्ड गाथा 436 में उन्होंने अपने को शास्त्रशिक्षा-दायक आचार्य वीरनंदी का वत्स शिष्य एवं आचार्य अभयनंदि को श्रुत गुरु के रूप में नमस्कार किया है। इसी प्रकार गाथा 785 में अभयनंदि मुनीश्वर बहुशास्त्र के पारगामी इंद्रनंदि गुरु एवं उत्कृष्ट वीरनंदि स्वामी गुरुओं को नमस्कार किया है। लब्धिसार की अंतिम दो गाथाओं अर्थात् 652 एवं 653 में भी उक्त तीनों आचार्य गुरुओं को श्रद्धावनत् नमस्कार किया है जिन्होंने अपने शिष्य नेमिचंद्र को ज्ञान-दान द्वारा पोषित किया है और इनके चरणों के प्रसाद से वे अनंत संसार से पार हुए। इनमें आचार्य अभयनंदि सिद्धांत-शास्त्रों के ज्ञाता थे, वे आचार्य नेमिचंद्र के शिक्षा-दीक्षा गुरु थे जबकि वीरनंदि एवं इंद्रनंदि का उनसे वरिष्ठ शिक्षा गुरु होना प्रतीत होता है। ये दोनों आचार्य जैन कर्म-सिद्धांत के पारगामी विद्वान थे।

1. गोम्मटसार

'गोम्मटसार' सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र की महत्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य तीर्थंकर वीर-वर्धमान के उपदेश के अनुसार ज्ञानावरणादिक कर्मों की निर्जरा एवं तत्त्वों के स्वरूप का निश्चय धारण करना है (गाथा 965)। इस ग्रन्थ का रचना-काल विक्रम संवत् 1040 होना प्रतीत होता है। आचार्य अमितगति ने अपने पंचसंग्रह (वि.सं. 1073) में गोम्मटसार ग्रन्थ की विषय-सामग्री का उपयोग किया है। जैसे - प्रथम अध्याय में 363 मत्तों की उत्पत्ति एवं कर्मकाण्ड में काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव का लक्षण आदि गोम्मटसार के अनुवाद मात्र प्रतीत होते हैं।

(अ) गोम्मतसार जीवकाण्ड

जीवकाण्ड में 734 गाथायें हैं। नेमिचन्द्र आचार्य ने जीवकाण्ड की पहली गाथा में 'जीवस्स-परुवणं वोच्छं' कहकर जीव-प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा की। इस ग्रन्थ में चेतना एवं चार प्राणों अर्थात् बल, इंद्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास से जीनेवाले जीव की गहन खोज की है। स्वभाव से ज्ञान-दर्शन-उपयोगमयी सिद्ध समान यह जीव अनादि काल से 'मोह-जोग भवा' (जीव काण्ड गाथा 3) अर्थात् मोह (दर्शन मोह और चारित्र मोह) तथा योग (मन, वचन और काय) के कारण संसार में दुःख भोग रहा है और 84 लाख योनियों में भटक रहा है। आत्म-सिद्धि हेतु ऐसे संसारी जीवों की खोज बीस-प्ररूपणाओं अर्थात् बीस माध्यमों से की गई है। वे हैं - गुणस्थान, जीव-समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, उपयोग और चौदह मार्गणाएँ। गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इस प्रकार इन बीस माध्यमों से जीव की विविध दशाओं, भावों एवं संसार में उसकी स्थिति का व्यापक व्यवस्थित एवं सूक्ष्म वर्णन किया है, जो मूलतः पठनीय-मननीय है। सिद्ध भगवान गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि से रहित हैं।

जीवकाण्ड में 22 अधिकार हैं। प्रथम पाँच क्रमशः (1) गुणस्थान, (2) जीवसमास, (3) पर्याप्ति, (4) प्राण और (5) संज्ञा से सम्बन्धित हैं। छठे अधिकार से उन्नीसवाँ अधिकार उक्त चौदह मार्गणाओं से संबंधित है। बीसवाँ अधिकार उपयोग का है। इक्कीसवाँ अन्तरभावाधिकार है और बाइसवाँ आलाप-अधिकार है।

गुणस्थान प्ररूपणा

मोह-योग के निमित्त से जीव के श्रद्धा और चारित्रगुण की तारतम्यरूप अवस्था का नाम गुणस्थान है। गुणस्थान चौदह हैं - (1) मिथ्यादृष्टि, (2) सासादन सम्यग्दृष्टि, (3) मिश्रभाव, (4) अविरति सम्यग्दृष्टि, (5) देशविरत, (6) प्रमत्त संयत, (7) अप्रमत्त संयत, (8) अपूर्वकरण, (9) अनिवृत्तिकरण, (10) सूक्ष्म सांपराय, (11) उपशांत मोह, (12) क्षीणमोह, (13) सयोगकेवलीजिन और (14) अयोगकेवलीजिन। इनमें प्रथम चार गुणस्थान दर्शन मोह के उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय से सम्बन्धित हैं। पाँचवें से तेरहवें गुणस्थान तक चारित्रमोह के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से सम्बन्धित हैं। 14वाँ गुणस्थान योग के अभाव से सम्बन्धित है। प्रथम गुणस्थान अधिकार की 69 गाथाओं में इनका सूक्ष्म वर्णन है। शुद्धोपयोग द्वारा मोह के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से क्रमशः कर्मों का क्षय होकर वीतरागता प्रगट होती जाती है और अंततः सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।

जीव-समास प्ररूपणा

संसार के नाना जीव और उनकी नाना प्रकार की जातियाँ जिन 'धर्म-विशेषों' के द्वारा जानी जाती हैं वे जीव-समास कहलाते हैं। त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त और प्रत्येक-साधारण ये चार जीव-समास हैं। एकेन्द्रिय के बादर-सूक्ष्म, दो-तीन एवं चार इंद्रिय के जीव, पंचेन्द्रिय के संज्ञी-असंज्ञी इस प्रकार सात भेद हुए। इनके पर्याप्त-अपर्याप्त रूप चौदह भेद होते हैं। इसी प्रकार 19, 56 एवं 407 प्रकार का जीव-समास होता है। जीव-समास में जीव का

उत्पत्ति-स्थान योनि, शरीर का आकार-प्रकार, कुल आदि का वर्णन है। सर्व जीवों की चौरासी लाख योनि एवं एक सौ साढ़े निण्याणवे लाख करोड़ कुल होते हैं। जिनका जीव-समास में 70 से 117 गाथाओं में विशद वर्णन है।

पर्याप्ति प्ररूपणा

नाम, कर्म के उदय से जीव को प्रत्येक योनि में शरीर, श्वासोच्छ्वास, इंद्रिय, आहार, भाषा और मन इनका निर्माण जीव की पर्याय में योग्यतानुसार होता है। जब इनका निर्माण पूर्ण हो जाता है, तब जीव पर्याप्त कहलाता है और अपूर्णता को अपर्याप्त कहते हैं। जीव की भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न पर्याप्ति-अपर्याप्ति का वर्णन गाथा 118 से 128 तक किया गया है। तथा किस पर्याप्ति-अपर्याप्ति में कौनसा गुणस्थान होगा यह भी बताया है।

प्राण प्ररूपणा

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न जीव का चैतन्य उपयोग भावप्राण है जबकि पाँच इंद्रिय, मन, वचन, काय, आयु व श्वासोच्छ्वास-ये दस व्यवहार प्राण हैं, जो मतिज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय के क्षयोपशम और नाम कर्म एवं आयु कर्म के उदय प्राप्त होते हैं। गाथा 129 से 133 तक किस जाति के जीव के कितने प्राण होंगे इसका विवेचन है।

संज्ञा प्ररूपणा

वांछा या तृष्णा ही संज्ञा है जो सभी संसारी जीवों में पायी जाती है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह - ये चार संज्ञाएँ होती हैं। संज्ञा का कारण और स्वामित्व आदि का वर्णन गाथा संख्या 134 से 139 में है। संज्ञा तत् सम्बन्धित कर्म की उदय-उदीरणा से उत्पन्न होती है। आगे मोहरूपी बैरी की हत्या करने हेतु चौदह मार्गणा और उसके भेद आदि का वर्णन प्रारम्भ में किया है।

मार्गणा

(1) गति मार्गणा - गमन करना ही गति है। नामकर्म के उदय से जीव का चार गतियों अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यच नरक गति में गमन करते रहना ही गति है। गाथा 140 से 163 तक चार गतियों के जीवों की संख्या आदि का वर्णन किया गया है।

(2) इंद्रिय मार्गणा - इंद्र अर्थात् आत्मा को जानने का जो चिह्न है वह इंद्रिय है। इंद्रियाँ अपने-अपने विषय-सेवन में स्वतंत्र हैं। इंद्रियाँ पाँच होती हैं। गाथा 164 से 180 तक इंद्रियों के भेद, प्रभेद, स्वामी, क्षेत्र, संख्या, अवगाहना आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है।

(3) काय मार्गणा - काय का सामान्य अर्थ शरीर है। नामकर्म के उदय से त्रस-स्थावर जीवों को जो पर्याय प्राप्त होती है वह काय है। काय के छः प्रकार हैं - पृथ्वी काय, अप काय, तेज काय, वायु काय, वनस्पति काय और त्रस काय। गाथा 181 से 215 तक छः काय के जीवों के भेद-प्रभेद, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त जीवों की संख्या, त्रसों का वास स्थान, शरीर का आकार आदि का विस्तृत वर्णन है।

(4) योग मार्गणा - 'युज्यते इति योगः' जो सम्बन्ध अर्थात् संयोग को प्राप्त हो उसे योग कहते हैं। नामकर्म के उदय से प्राप्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से आत्मा के प्रदेश चंचल या

स्पंदित होते हैं, जो कर्म-वर्गणा के ग्रहण में निमित्त होती है। यह परिणामों के अनुसार शुभ और अशुभ रूप होती है। आत्म-प्रदेशों की चंचल रूप प्रवृत्ति से कर्मों का आगमन एवं एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है, वह स्पंदन योग कहलाता है। गाथा 216 से 270 तक मन योग, वचन योग और काय योग स्वरूप भेद-प्रभेद, योग का काल, प्रवृत्ति, स्थिति एवं योगरहित आत्मा का वर्णन है।

(5) वेद मार्गणा - 'वेदनं वेदः' जो वेदा जाये, अनुभव किया जाये, उसे वेद कहते हैं। इसका दूसरा अर्थ है लिंग या चिह्न। वेद नाम के मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले जीव के वेद्यभाव होते हैं जिससे वे काम-विकार को प्राप्त होते हैं। वेद तीन प्रकार का है- पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद। गाथा 271 से 281 तक भाव एवं द्रव्य वेद का विधान, लक्षण, तीनों वेदों के जीवों की संख्या, अवेदी जीव का वर्णन आदि किया है। वेदभाव 9वें गुणस्थान के दूसरे भाग तक होता है। सिद्ध भगवान वेदरहित, अवेदी हैं। वे आत्मा के अतीन्द्रिय, अनंत ज्ञान-दर्शन, सुख आदि के भोक्ता हैं।

(6) कषाय मार्गणा - आत्मा के राग-द्वेषरूप कलुषितभाव को कषाय कहते हैं। सुख-दुःखरूपी नाना प्रकार के धान्य को उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र को जो कर्षण करती है, अर्थात् फल उत्पन्न करने योग्य करती है, उन्हें कषाय कहते हैं। लक्षण की अपेक्षा अर्थ में 'कपंतीति कषायाः' अर्थात् जो कसे, हंते या घात करे वह कषाय है। मूल कषाय चार हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें क्रोध और मान द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ रागरूप हैं। आसक्ति अर्थात् अनुभाग की तीव्रता-मंदता की दृष्टि से ये कषायें चार प्रकार की हैं - अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय। इस प्रकार चारों कषायें इन चार-चार भेदों से सोलह प्रकार की हैं। ये कषायें चारित्र मोह-परिवार की हैं, जिनका उदय-स्थान असंख्यात लोकप्रमाण होने से कषाय-भाव भी असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। लेश्यास्थान की दृष्टि से 14 और आयु, बल, बंध, अबंध की दृष्टि से 20 कषायें हैं।

अनंतानुबंधी क्रोधादि तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व (स्वरूपाचरण चारित्र) को घातते हैं, और अनंत संसार का कारण मिथ्यात्व तथा अनंत संसार अवस्थारूप काल से अनुबंध कराते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय अणुव्रतरूप देश-चारित्र को घातती है/आवृत्त करती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय महाव्रत रूप सकल-चारित्र को घातती है/आवृत्त करती है, तथा संज्वलन कषाय, सकल कषाय के अभावरूप यथाख्यात चारित्र को घातती है/दहन करती है। गाथा 282 से 298 तक कषाय का स्वरूप, भेद-प्रभेद, चार गतियों की प्राप्ति में भिन्न-भिन्न कषायों का योगदान एवं जीवों की संख्या, काल का वर्णन आदि किया गया है।

कषाय मार्गणा में एकेन्द्रिय, मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक क्रोधादि चारों कषायें पाई जाती हैं। क्रोध, मान और माया क्रम से घटती हुई अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में दूसरे-तीसरे और चौथे भागपर्यंत हैं और लोभ सूक्ष्म सांपराय-पर्यंत है। इस प्रकार क्रोध, मान, माया नौवें गुणस्थान तक तथा लोभ दसवें गुणस्थान तक होता है। सिद्ध भगवान सर्व कषायरहित-अकषायी होते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सम्यक्त्व का प्रतिबंधक मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय परिवार का है जबकि क्रोधादि कषाएँ चारित्र मोह परिवार की हैं। इनके स्वभाव और कार्य भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। अनंतानुबंधी कषाएँ सम्यक्त्व और चारित्र का घात करती हैं। यह उनकी द्वि-स्वमानता है। वस्तुतः कषायों से तत्त्व-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व का घात नहीं होता है किन्तु जब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्त्व प्राप्त होता है तब अनंतानुबन्धी कषाएँ उदय में नहीं रहतीं। अनंतानुबंधी कषायों की द्वि-स्वमानता का लक्षण सासादन गुणस्थान में प्रकट होता है, जहाँ मिथ्यात्व प्रकृति का उदय न होने से जीव को मिथ्यात्व तो नहीं होता किन्तु किसी एक अनंतानुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व का नाश हो जाता है।

(7) **ज्ञान मार्गणा** - जीवादि छह द्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों को प्रत्यक्ष-परोक्ष-रूप से जाननेवाला आत्मा का गुण ज्ञान कहलाता है। 'जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रंवा ज्ञानं'। जो जानता है वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाये सो ज्ञान है और जानना मात्र ज्ञान है। ज्ञानस्वभावी आत्मा स्व-पर प्रकाशक है। सविकल्प/साकार उपयोग-ये भी ज्ञान के नाम हैं। मोक्षमार्ग में ज्ञान की ही विशेष भूमिका है। स्वानुभूतिपूर्वक आत्मस्वभाव के प्रति श्रद्धान-ज्ञान एवं स्थिरता ही मोक्षमार्ग है।

ज्ञान के पाँच भेद हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान। इनमें प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, केवलज्ञान क्षायिक है। ये पाँच ज्ञान सुज्ञान कहलाते हैं। कुमति, कुश्रुत एवं कुअविधज्ञान ये तीन मिथ्याज्ञान हैं जो मिथ्यात्व सासादन और मिश्र गुणस्थान तक होते हैं। इस प्रकार ज्ञानमार्गणा के आठ भेद हुए। गाथा 299 से 464 में ज्ञान का लक्षण, भेद-प्रभेद, स्वामित्व, ज्ञानी-अज्ञानी जीवों की संख्या, गुणस्थान आदि का बेजोड़ वर्णन किया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। बारह अंग और चौदह पूर्व के अक्षर, पदों, विषय आदि का भी वर्णन किया है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान चौथे गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि से बारहवें गुणस्थान क्षीणमोह तक होते हैं। मनःपर्यय ज्ञान छठे प्रमत्त गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान क्षीणमोह तक होता है। केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में होता है। मोक्षमार्ग में आत्मानुभूतिपूर्वक आत्मज्ञान ही सुज्ञान कहलाता है, शेष मोहयुक्त ज्ञान, कुज्ञान की श्रेणी में आता है। वस्तुतः मोह (मिथ्यात्व) के संयोग और वियोग से ज्ञान, कुज्ञान-सुज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में आत्मज्ञान विहीन आगम-ज्ञान अकिंचित्कर होता है।

(8) **संयम मार्गणा** - 'सम्यकयमो व संयम' सम्यक प्रकार से यम अर्थात् नियम ही संयम है। अहिंसादि व्रत, ईर्यादि समिति, क्रोधादि कषायों का निग्रह, तीन गुप्ति एवं स्पर्शनादि पाँच इंद्रियों का जीतना, इन पाँच व्रतों का धारण करना ही संयम है। शुद्धात्मा का ध्यान निश्चय संयम है। इस प्रकार संयम-निश्चय संयम और व्यवहार संयम रूप है। आगम में इसे वीतराग संयम एवं सराग संयम कहा गया है। व्यवहार में इसे इंद्रिय-संयम और प्राणी-संयम रूप में विभाजित किया है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात - संयम के ये पाँच भेद हैं। संयमासंयम और असंयम मिलाकर इनके धारक संयत के कुल सात भेद भी

आगम में प्रसिद्ध हैं। गाथा 465 से 481 तक संयम के भेद-प्रभेद, उत्पत्ति का कारण ग्यारह प्रतिमा, इंद्रियों के विषय तथा संयत-असंयत जीवों की संख्या आदि का वर्णन किया गया है।

असंयम-भाव, चारित्र मोहनीय कर्म के उदय-उदीरणा से होते हैं, जिससे जीव की प्रवृत्ति स्वच्छंद होकर संसार-दुःख का कारण बनती है। समितियों के साथ व्रतों का पालन संयम कहलाता है। समितियों के बिना व्रत, विरति कहलाता है।

असंयम-पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान तक होता है। संयमासंयम पाँचवें गुणस्थान में होता है। सामायिक एवं छेदोपस्थापनासंयम प्रमत्तसंयम से अनिवृत्तिकरण गुणस्थानों में होता है। परिहार-विशुद्धि संयम प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानों में होता है। सूक्ष्म सांपरायसंयम सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में ही होता है तथा यथाख्यातसंयम उपशांत मोहादिक चारों गुणस्थानों में होता है। सिद्ध भगवान को इंद्रिय संयम और प्राणी संयम नहीं होता, वे स्वरूपलीनतारूप निश्चय संयम के धारक होते हैं।

(9) दर्शन मार्गणा - पदार्थ के सामान्य सत्तावलोकन का नाम दर्शन है। इसमें जाति, क्रिया, गुण आदि विशेष को ग्रहण नहीं करते। 'पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्र वा दर्शनम्' जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाये अथवा देखनामात्र ही दर्शन है। इसके चार भेद हैं - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। गाथा 482 से 488 तक दर्शन के स्वरूप, भेद, जीवों की संख्या आदि का वर्णन किया गया। चक्षुदर्शन - चार इंद्रिय जीव से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है। अचक्षुदर्शन स्थावर काय मिथ्यादृष्टि जीव से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है। अवधिदर्शन चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होता है। केवलदर्शन अयोग-सयोग केवली गुणस्थानों में एवं गुणस्थानातीत सिद्धदशा तक होता है।

(10) लेश्या मार्गणा - 'लिंपति एतयाइति लेश्या' जो लिंपन/लिस करती है वह लेश्या है, अर्थात् जो जीव को कर्मों से लिस करती है उसे लेश्या कहते हैं। कषाय के उदय से अनुरंजित जीव की मन-वचन-कायरूप योग की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। लेश्या दो प्रकार की है - भाव लेश्या और द्रव्य लेश्या। जिससे चार प्रकार के कर्मों का बंध होता है, उसे भाव लेश्या कहते हैं। शरीर का कृष्णादि वर्ण द्रव्य लेश्या है। लेश्या छः प्रकार की है - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इनमें कृष्ण, नील और कापोत अशुभ लेश्या है और पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्या कहलाती है। कषाय व योग के उदय से उत्पन्न होने से लेश्या औदयिक भाव है।

योग व कषाय की प्रवृत्ति तीव्र, मंद एवं मंदतर होती है। जिसके अनुसार जीव की पुण्य-पाप-रूप प्रवृत्ति होती है। लेश्या कषायों की तीव्रता-मंदता की सूचक है। गाथा 489 से 556 तक लेश्या का स्वरूप भेद-प्रभेद, स्वामित्व आदि का विस्तृत वर्णन (1) निर्देश, (2) वर्ण, (3) परिणाम, (4) संक्रम, (5) कर्म, (6) लक्षण, (7) गति, (8) स्वामी, (9) साधन, (10) संख्या, (11) क्षेत्र, (12) स्पर्शन, (13) काल, (14) अंतर, (15) भाव और (16) अल्प-बहुत्व - इन सोलह अधिकारों में किया गया है, जो मूलतः पठनीय है।

अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान कषायों की छः लेश्या होने से 24-24 लेश्या होती हैं। प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय को पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होने के कारण 12-12 भेद होते हैं। दुखस्वरूप कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के भाव असंयतगुणस्थान तक होते हैं। पाँचवें गुणस्थान से 10 वें गुणस्थान तक क्रमशः यथायोग्य तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। छहों द्रव्य लेश्याएँ तो सयोग-अयोग केवली गुणस्थान तक होती हैं। शुक्ल लेश्या के जीव सर्वार्थसिद्धि सहित पंच अनुत्तर विमान तक उत्पन्न होते हैं। सिद्ध भगवान कृष्णादि लेश्यारहित-अलेश्य हैं क्योंकि उनके मोह आदि द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्मों का अभाव होता है। वे सिद्धपुरी में अनंत अव्याबाध, अतीन्द्रिय सुख का वेदन करते हैं।

(11) **भव्य मार्गणा** - सिद्ध अर्थात् अनंत चतुष्टयरूप स्वरूप धारण करने योग्य होनहार जीव भव्य कहलाते हैं। जिनमें सिद्धि की योग्यता नहीं होती और जो मुक्त नहीं होंगे वे अभव्य जीव हैं। भव्य मार्गणा के तीन भेद हैं - भव्य, दूरान्दूर भव्य और अभव्य। जीवत्व पारिणामिक भाव धारण करनेवाले मुक्त जीव न भव्य हैं और न अभव्य। गाथा 557 से 560 तक भव्य-अभव्य के स्वरूप भेद, भव्य-अभव्य जीवों की संख्या का वर्णन किया है।

(12) **सम्यक्त्व मार्गणा** - सर्वज्ञदेव द्वारा कथित जीवादिक छहों द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थ का श्रद्धान, रुचि और यथावत प्रतीति ही सम्यक्त्व है। 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' एवं 'तत्त्वरुचि सम्यक्त्व' का एक ही भाव है। सर्वज्ञ-कथित, आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। यह दो प्रकार का है - 1. सराग सम्यक्त्व और 2. वीतराग सम्यक्त्व। प्रशम, संवेग, अस्तिक्य आदि गुणसहित श्रद्धान सराग सम्यक्त्व है और केवल शुद्ध चैतन्य आत्म-तत्त्व-का श्रद्धानरूप विशुद्धता वीतराग सम्यक्त्व है। आत्मा में सम्यक्त्व की उत्पत्ति निर्विकल्प आत्मानुभूतिपूर्वक होती है। उस काल में दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के समय चारित्र मोहनीय कर्म की अनंतानुबंधी चार कषायों का उपशम या विसंयोजन होता है, ऐसा नियम है। सम्यक्त्व में शुद्धात्मा का श्रद्धान, रुचि एवं अंतरंग में तदनुसार अभिप्रायः महत्वपूर्ण है। सम्यक्त्व के बिना आगम ज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि कार्यकारी नहीं हैं। चारों गतियों के पंचेन्द्रिय संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्ध परिणामों युक्त शुभ लेश्याधारी भव्य जीवों को निसर्ग अर्थात् स्व-परिणाम और अधिगम अर्थात् उपदेश के निमित्त से सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद हैं - मिथ्यात्व, मोहनीय, सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक् मोहनीय, औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक सम्यक्त्व। इनमें प्रथम दो प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं और सम्यक् मोहनीय देशघाती है। सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय एवं सम्यक् मोहनीय का बंध नहीं होता, ये सत्व और उदय रूप प्रकृतियाँ हैं। कर्म भूमि में उत्पन्न मनुष्य को क्षायिक सम्यक्त्व केवली भगवान के पाद मूल में होता है। क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व की निर्मलता समान है; किन्तु क्षायिक निश्चल भी होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मल, अगाढ़ लक्षणसहित समल होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इसका अंतरमुहूर्त्तकाल होने के बाद मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने पर पहले गुणस्थान

में, अनंतानुबंधी किसी एक कषाय का उदय होने पर दूसरे गुणस्थान में, मिश्र प्रकृति का उदय होने पर तीसरे गुणस्थान में और सम्यक् प्रकृति का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो जाता है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सप्तम से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से सिद्ध अवस्था तक रहता है।

सम्यक्त्व के पहले पाँच लब्धियाँ होती हैं - क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि, तथा अधःकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्ति करण रूप परिणमित होने योग्य करणलब्धि। करण का अर्थ परिणाम है। इनमें प्रथम चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों को होती हैं। किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता होनेवाले भव्य जीव को ही होती है। इस दृष्टि से सम्यक्त्व में करणलब्धि नियामक एवं पुरुषार्थपरक है। गाथा 561 से 659 तक छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, सम्यक्त्व के भेद-प्रभेद, गुणस्थानों के जीवों की संख्या, सम्यक्त्व ग्रहण योग्य जीव और सम्यक्त्वमार्गणा के जीवों की संख्या आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

(13) **संज्ञी मार्गणा** - जीव दो प्रकार के हैं - 1. संज्ञी और 2. असंज्ञी। जो मनसहित हैं, हित-अहित की शिक्षा ग्रहण करने योग्य हैं, कार्य-अकार्य एवं तत्त्व-अतत्त्व, का विचार करनेवाले हैं वे संज्ञी जीव कहलाते हैं। इसके विपरीत मन-रहित, मात्र इंद्रिय-ज्ञानवाले जीव असंज्ञी कहलाते हैं। गाथा 660 से 663 तक इन जीवों का स्वरूप एवं इनकी संख्या का वर्णन है। संज्ञी जीव मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय गुणस्थान-पर्यंत होते हैं। असंज्ञी जीव स्थावर नाम से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंत मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं।

(14) **आहार मार्गणा** - औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरों में से किसी एक के उदय को प्राप्त शरीर के योग्य शरीरवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणा योग्य नो-कर्म वर्गणाओं के ग्रहण करने का नाम आहार है। आहारक मार्गणा के दो भेद हैं - अनाहारक और आहारक। तीन शरीरों और छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलरूप जिनके आहार नहीं होता वह अनाहारक होता है। विग्रहगति को प्राप्त हुए चारों गति के जीव, प्रतर और लोक समुद्घात को प्राप्त सयोग केवली और अयोग केवली तथा सिद्ध भगवान - ये सब अनाहारक हैं। शेष सब आहारक हैं। गाथा 664 से 671 तक आहारक-अनाहारक का स्वरूप, भेद, समुद्घात का स्वरूप और भेद तथा जीवों की संख्या आदि का वर्णन है।

उपयोग प्ररूपणा - जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसे उपयोग कहते हैं। चेतना की ज्ञान-दर्शनरूप परिणति उपयोग कहलाती है। यह दो प्रकार की है - साकार और अनाकार। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान - ये पाँच ज्ञान और कुमति, कुश्रुत एवं कुअवधि ये तीन अज्ञान इस प्रकार आठ साकार उपयोग हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शन निराकार उपयोग हैं। गाथा 672 से 676 तक अयोग का स्वरूप, भेद-प्रभेद, काल एवं उनके जीवों की संख्या का वर्णन किया है।

अंतरभाव अधिकार - इसमें गति आदि 14 मार्गणा के गुणस्थान एवं जीव-समास का वर्णन है। द्वितियोपशम सम्यक्त्व के साथ गुणस्थानों के अंतर्गत जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा और उपयोग का वर्णन गाथा 677 से 705 तक किया है।

आलाप अधिकार - इस अधिकार में 706 से 734 तक गाथाएँ हैं। जिनमें 'गुणजीवा पज्जती' बीस प्ररूपणा का आलाप अर्थात् गुणस्थान एवं मार्गणास्थान के भेद-सहित कथन किया है। इनके सामान्य, पर्याप्ति और अपर्याप्ति ये तीन आलाप हैं। अनिवृत्तिकरण के पाँच भाग की अपेक्षा पाँच आलाप हैं, जिनके दो भेद हैं - लब्ध्य पर्याप्त और निर्ब्रत्य पर्याप्त। अंत में चौदह गुणस्थान, जीव समास, संज्ञा पर्याप्ति, दशप्राण एवं द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित सदा-शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी का वर्णन कर, घोषित किया है कि जो जीव निक्षेप, एकार्थ (योनि) नय, प्रमाण, निरुक्ति, नियोग के द्वारा जो गुणस्थानादिक बीस प्ररूपणा के भेद को जानते हैं, वे जीव भव्य हैं, वे आत्मा के सत् समीचीन भाव को जानते हैं और तदनुसार सिद्ध होते हैं - ये ही ग्रंथकार को इष्ट हैं। अंतिम गाथा 734 में आचार्य नेमिचंद्र ने अपने शिष्य गोम्मटरूप चामुंडराय राजा को 'गोम्मटो जयउ' का आशीर्वाद देकर जीवकाण्ड समाप्त किया।

(ब) गोम्मटसार कर्मकाण्ड

आचार्य नेमिचंद्र ने "कर्मणां निर्जरार्थं तत्त्वार्थं व धारणार्थं च" अर्थात् कर्मों की निर्जरा एवं तत्त्वों के स्वरूप के अवधारण-निश्चय के उद्देश्य से गोम्मटसार संग्रह सूत्र (गाथा 965) की रचना की। जीवकाण्ड में जीव का वर्णन किया है। कर्मकाण्ड में संसार दुखदायक या सुख प्रतिबंधककर्म सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन 972 गाथाओं में किया है। कर्मकाण्ड में नौ अधिकार हैं, जिनकी संक्षिप्त विषय-वस्तु निम्न प्रकार है -

1. **प्रकृति समुत्कीर्तनाधिकार** - सम्यक्त्व की प्राप्ति हेतु ज्ञानावरणादिक कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार जल का स्वभाव नीचे की ओर गमन करना है, उसी प्रकार जीव और कर्म (कार्माण पुद्गल परमाणु) का भी स्वभाव है। जीव का स्वभाव रागादि-रूप होने का तथा कर्म का स्वभाव निमित्तरूप से रागादि उत्पन्न करा देने का है। इस स्वभाव के कारण जीव और कर्म का संबंध अनादि काल से है। संसारी जीवों में कर्म-बंध और उदय की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। जीव के आंतरिक परिणाम और योग की स्थिति के अनुसार कम या अधिक कर्म-बंध होता है। कर्मों की निर्जरा प्रति समय होती है परन्तु $1\frac{1}{2}$ गुना कर्म सत्ता में बने रहते हैं। इतना विशेष है कि सम्यक्त्वादि के कारण अनेक कर्मों की निर्जरा हो जाती है जो पुरुषार्थ की द्योतक है। कर्म के दो भेद हैं - द्रव्य कर्म और भाव कर्म। ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्य-कर्म है और उन पुद्गल द्रव्य-कर्मों के फल देने की शक्ति भाव-कर्म है। इस शक्ति के निमित्त से आत्मा में जो रागादि भाव होते हैं उन्हें भी भाव-कर्म कहते हैं।

यद्यपि कर्म-कर्मपने से अभेद हैं; किन्तु कर्मों की प्रकृति एवं उनके फल देने की क्षमता के आधार पर उनमें भेद हुआ है। मूल कर्म आठ हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय

आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। इनकी 148 उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें 5 ज्ञानावरण, 9 दर्शनावरण, 28 मोहनीय और 5 अंतराय कर्म जीवों में ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के प्रकट होने में बाधक होने के कारण ये 47 कर्म प्रकृतियाँ घातिया हैं। 4 आयु, 93 नाम, 2 गोत्र और 2 वेदनीयकर्म जीव के उक्त गुणों को नहीं घातते, अतः ये 101 कर्मप्रकृतियाँ अघातिया हैं। इन कर्मों के अपने-अपने स्वभावानुसार आत्मा के गुणों को प्रकट न होने देने और सुख-दुःख की बाह्य सामग्री आदि उपलब्ध कराने का कार्य है, जो मोही जीव को संसार-भ्रमण कराता है। जब यह जीव पुरुषार्थपूर्वक मति, श्रुत, अवधि, ज्ञानादिक, क्षायोपशमिक गुणों का आश्रय करता है तो केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चरित्र, एवं दानादिक पाँच लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। आत्मा का ज्ञान गुण प्रधान होने से ज्ञान को सबसे पहले कहा गया है।

कर्म के उदय से उत्पन्न मोह अर्थात् अज्ञान, असंयम और मिथ्यात्व से संसार बढ़ता ही जा रहा है, जीव का चार गतियों में अवस्थान आयु कर्म के उदय से होता है। परिपाटी से चले आए आचरण को गोत्र कहते हैं - उच्च आचरण को उच्चगोत्र और निम्न आचरण को नीच गोत्र/ इंद्रियों द्वारा विषयों का सुख-दुख आदि का अनुभव करना वेदनीय है। सामान्य अवलोकन दर्शन है, जानना ज्ञान है, श्रद्धान सम्यक्त्व है - ये जीव के गुण हैं। इस प्रकार आत्मा के गुणों में ज्ञान ही पूज्य/प्रधान है। ज्ञान धारण की शक्तिरूप वीर्य है।

भेद-विवक्षा से 146 कर्म प्रकृतियाँ बंध योग्य, 148 कर्म प्रकृतियाँ उदय और सत्ता में रहती हैं, जबकि अभेद-विवक्षा से बंध योग्य 120, उदय योग्य 122 और सत्ता में 148 कर्म प्रकृतियाँ रहती हैं। घातिया कर्मों में 21 सर्वघाति व 26 देशघाती प्रकृतियाँ हैं। भेद-विवक्षा से 68 बंध योग्य पुण्य प्रकृतियाँ और अभेद-विवक्षा से 42 हैं। इसी प्रकार भेद-विवक्षा से 78 बंध योग्य पाप-प्रकृतियाँ और अभेद-विवक्षा से 82 हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की 20 प्रकृतियाँ पुण्य-पाप दोनों रूप होती हैं। स्पष्ट है कि पापरूप कर्म प्रकृतियाँ अधिक हैं।

सम्यक्त्व विराधनी 'मिथ्यात्व' अनंत-संसार का कारण होने से 'अनंत' और उससे 'अनुबंधनंति' या सम्बन्ध करने के कारण यह कषाय 'अनंतानुबंधी' कहलाती है। उसका वासनाकाल अनंतकाल है। देश-चरित्र-विराधनी अप्रत्याख्यानावरण का वासनाकाल छह माह है। सकल संयम विराधनी प्रत्याख्यानावरण का वासना काल पन्द्रह दिन है और संयम की प्रकाशक संज्वलन कषाय का वासना काल अंतर मुहूर्त है। अकषायरूप ज्ञानस्वरूपी आत्मा को समझकर उसमें रमनेवाला जीव मिथ्यात्व एवं क्रोधादि कषायजन्यकर्मचक्र से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है।

किस कर्म प्रकृति के उदय का फल किस प्रकार होता है, उसको विपाक कहते हैं। इस दृष्टि से 62 कर्म प्रकृतियाँ पुद्गल-विपाकी हैं। चार भव-विपाकी, 8 क्षेत्र-विपाकी और 78 (47 घातिया कर्म, 27 नाम कर्म और 22 वेदनीय-गोत्र) प्रकृतियाँ जीव-विपाकी हैं। जीव-विपाकी कर्म प्रकृतियों में 'मोहनीय कर्म' ही कर्म-बंध का कारण है। अतः आत्मानुभूतिपूर्वक उसके नाश का प्रथम पुरुषार्थ करना चाहिए।

आगे नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार निक्षेपों के स्वरूप, भेद-प्रभेद आदि का वर्णन कर्मों के संदर्भ में गाथा 52 से 76 तक किया है, जो पठनीय है।

2. बंधोदय सत्त्वाधिकार - इस अध्याय में आचार्य नेमिचंद्र ने परम शुद्ध उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हेतु 'असहाय-पराक्रम' अर्थात् अभेदरूप रत्नत्रय द्वारा अपनी निज सामर्थ्य से ही कर्मबैरी को जीतनेवाले सिद्ध-बुद्ध तीर्थंकर नेमिनाथ को नमस्कार कर गुणस्थान एवं मार्गणा स्थानों में कर्म-बंध, कर्म-उदय एवं कर्मों की सत्ता का वर्णन गाथा क्रमांक 87 से 357 तक किया है।

कर्म-बंध - कर्म-बंध चार प्रकार का है। प्रकृति-बंध, स्थिति-बंध, अनुभाग-बंध और प्रदेश-बंध। इन चार कर्मों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य ये चार-चार भेद हैं।

प्रकृति-बंध - इसमें किन-किन कर्म-प्रकृतियों का बंध किस-किस गुणस्थान तक होता है, यह बताया है - जैसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यक्त्वी को चौथे से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तीर्थंकर या श्रुतकेवली के पादमूल में होता है। इसके पश्चात् गुणस्थानों में 120 कर्मों की बंध-व्युच्छिति (अर्थात् बंध का रुकना या संवर), बंध व अबंध का वर्णन किया है। जैसे - सम्यक्त्व के कारण प्रथम गुणस्थान के अंत में निकृष्ट 16 कर्म प्रकृतियों का बंध रुक जाता है, दूसरे गुणस्थान में 25 नीच प्रकृतियों का बंध रुक जाता है आदि। बंध की दृष्टि से पहले गुणस्थान में 117 कर्म प्रकृतियों का बंध होता है और चौदहवें गुणस्थान में बंध नहीं होता आदि। कुछ कर्म प्रकृतियों का गुणस्थानों में बंध नहीं होता जैसे प्रथम गुणस्थानों में 3, दूसरे में 19 आदि। मार्गणा-स्थानों में भी इसी प्रकार कर्म-बंध का वर्णन गाथा 126 तक है।

स्थिति-बंध - आत्मा के साथ कर्मों के रहने की मर्यादा या समय को स्थिति-बंध कहते हैं। इसमें मूल और उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट, जघन्य स्थिति-बंध और उनके बंधकों का वर्णन गाथा 127 से 162 तक है। जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ा-कोड़ी सागरप्रमाण; नाम और गोत्र की 20 कोड़ा-कोड़ी सागर; मोहनीय कर्म की 60 कोड़ा-कोड़ी सागर तथा आयु कर्म की स्थिति शुद्ध 33 सागर तक की है। स्थिति-बंध का मूल कारण भाव या परिणाम है जो दो प्रकार के होते हैं - कषायसहित संक्लेश परिणाम और मंद कषाययुक्त विशुद्ध परिणाम। तिर्यंच, मनुष्य व देव आयु को छोड़कर शेष 117 प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-बंध, उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है और जघन्य स्थिति-बंध विशुद्ध परिणामों से होता है। आहाराक-द्वि तीर्थंकर और देवायु को छोड़कर शेष 116 प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-बंध मिथ्यादृष्टि जीव ही करता है। अर्थात् उक्त चार प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति-बंध सम्यग्दृष्टि को ही होता है।

आबाधा काल - कर्म के बंध और कर्म के उदय या उदीरणा के बीच के अंतर का समय आबाधा काल कहलाता है, जैसे - एक कोड़ा-कोड़ी सागर-प्रमाण का आबाधा काल 100 वर्ष प्रमाण होता है। इसी अनुपात में अन्य कर्म-बंध का आबाधा काल आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के उदय का होता है। उदीरणा की अपेक्षा सात कर्मों का आबाधा काल एक आवली है। समय-पूर्व कर्मों का उदय में आना या खिरना उदीरणा कहलाता है। आबाधाकाल की

व्यवस्था का फलित अर्थ यह होता है कि कर्म-बंध के बाद एवं उदय के पूर्व, आबाधा-काल की अवधि में जीव चाहे तो अपने सम्यक पुरुषार्थ से उस कर्म-बंध को समाप्त कर सकता है। यह आत्मस्वरूप के प्रति निरंतर जागरूकता का महत्व दर्शाता है। आगे कर्मों की निषेक रचना अर्थात् खिरने की पद्धति का वर्णन है।

अनुभाग-बंध - कर्मों के हीनाधिक फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। इनका वर्णन गाथा 163 से 184 तक किया है। अनुभाग बंध का सूत्र है - विशुद्ध परिणामों से शुद्ध प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध और अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है। तथा संक्लेश परिणामों से शुभ प्रकृतियों का जघन्य और अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-बंध होता है। अन्य प्रकृतियों में भी इसी प्रकार होता है। पुण्यरूप 42 प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-बंध विशुद्धतावाले जीव को होता है तथा पापरूप 82 प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-बंध संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव को होता है। उससे तत्व-अभ्यासरूप विशुद्ध परिणामों की उपादेयता सिद्ध होती है। घातिया कर्मों की फल देने की शक्ति लता, काठ, हड्डी और पत्थर जैसी क्रमागत कठोरपने की है, जिसके उदय से आत्मगुण प्रगट नहीं होते। अघातिया कर्मों की शुभ प्रकृतियाँ गुड़, खांड, मिश्री और अमृत जैसी तथा अशुभ प्रकृतियाँ नींब, कांणीर, विष और हलाहल जैसी संसार को सुख-दुख देती है।

प्रदेश-बंध - मिथ्यात्वादि के निमित्त से कर्मरूप पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध को प्रदेश-बंध कहते हैं। यहाँ प्रदेश का अर्थ संख्या से है। गाथा 185 से 218 तक मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों का प्रदेश-बंध एवं गाथा 219 से 261 तक प्रदेश-बंध के कारणभूत योग के भेद-प्रभेद आदि का विस्तृत वर्णन किया है। एक समय में ग्रहण किये कर्म परमाणुओं का विभाजन आठों कर्मों में होता है। इसमें आयु कर्म का थोड़ा हिस्सा होता है। शेष कर्मों में, कर्म परमाणुओं के बँटवारे के निश्चित अनुपात का विधान है।

कर्म-उदय - कर्म-बंध हुए कर्मों का उदय में आना लगा हुआ है, जो आबाधा काल के बाद कर्म-स्थिति पर्यंत होता रहता है। किस गुणस्थान और मार्गणास्थान में कौन-कौन से कर्म उदय में आयेंगे, कितने कर्मों का कहाँ उदय, कहाँ व्युच्छिति होगी, कितनों का अनुदय होगा इसका तथा उदीरणा, उदीरणा-व्युच्छिति तथा अनुदीरणा का वर्णन गाथा 261 से 332 तक किया है।

आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग का उदय प्रमत्त गुणस्थान में होता है। तीर्थंकर प्रकृति का उदय सयोगी-अयोगी केवली को ही होता है। मिश्र मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय अब्रत सम्यग्दृष्टि आदि चौथे गुणस्थानवर्ती वेदक सम्यग्दृष्टि को ही होता है। सयोग केवली एवं अयोग केवली को क्रमशः 42 और 12 कर्मों का उदय होता है। इससे स्पष्ट होता है कि कर्म-उदय से कर्म-बंध नहीं होता। एकत्व-ममत्व न होने के कारण दुःख भी नहीं होता। प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पाँच की उदय-व्युच्छिति होती है। दूसरे गुणस्थान में 9, तीसरे में 1 और चौथे में

17 कर्मों की उदय-व्युच्छिति होती है। अन्य गुणस्थानों में भी ऐसी व्यवस्था है। संज्ञी तिर्यच देश-व्रती हो सकते हैं।

जिनेन्द्र-देव के असाता के निमित्त से 11 क्षुधादिक परिषह होते हैं, किन्तु मोह कर्म के अभाव के कारण उदय मिष्ट जल में एक खारी बूँद जैसा अकार्यकारी होता है।

कर्मों का सत्व या सत्ता - सत्व का अर्थ कर्मों की सत्ता या अस्तित्व में रहने से है। जब तक बंधे हुए सब कर्म उदय में आकर झड़ नहीं जाते तब तक सत्ता में बने रहते हैं, इसे सत्व कहते हैं। सत्व-असत्व की प्रकृति का वर्णन एवं किस गुणस्थान एवं मार्गणा-स्थान में कितने कर्मों की सत्ता बनी रहती है, और सत्व-व्युच्छिति आदि का वर्णन गाथा 333 से 357 तक किया है। पहले, चौथे गुणस्थान में 148 कर्मों की सत्ता है। दूसरे में 145, तीसरे-पांचवें में 147, छठे-सातवें में 146, आठ से ग्यारह तक 142, बारहवें में 101 और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में 85 कर्मों की सत्ता रहती है।

कर्मों के फल देने के पूर्व ही उनका पूर्णतया नष्ट हो जाना उद्वेलन है। इंद्रिय और काय मार्गणा में कर्म प्रकृतियों की उद्वेलना का भी वर्णन है।

3. सत्व स्थान-भंगाधिकार - यह अधिकार 'सत्व-स्थान' और भंग शब्द से बना है। किसी एक काल में किसी जीव के जितनी कर्म-प्रकृतियाँ सत्ता में पायी जाये, उस कर्म-समूह का नाम 'सत्व स्थान' है। उस सत्व स्थान में एक-सी समान संख्या पाये जाने पर कर्म-प्रकृतियों में अंतर हो तो उसे भंग कहते हैं। जैसे 145 कर्म प्रकृतियाँ सत्ता में रहते हुए आयु, मनुष्य या देव हो सकती हैं। यहाँ सत्व स्थान एक होने पर भी दो भंग हुए। प्रत्येक गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों का सत्व-स्थान कितने प्रकार से सम्भव है और उसके साथ जीव किस आयु को भोगता है, बद्धायु-अबद्धायु आदि का वर्णन गाथा 358 से 397 तक किया है। पहले से तीन गुणस्थान में क्रमशः 18, 4 और 8 सत्व स्थान है। चौथे से सातवें तक 40-40 सत्व स्थान हैं। आठ से दसवें गुणस्थान तथा ग्यारहवें गुणस्थान में 24-24 सत्व स्थान हैं। क्षपक श्रेणी की अपेक्षा आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक 36, 4, 8, 46 सत्व स्थान हैं। इन गुणस्थानों में सत्व स्थान के क्रमशः 50, 12, 36, 120, 48, 40, 40, 28, 62, 28, 24, 8, 4, 8 भंग होते हैं। आचार्य कहते हैं - जो कर्मों के सत्व स्थान को पढ़ेगा, सुनेगा और चिंतवन करेगा वह अवश्य मोक्ष सुख पावेगा।

4. त्रिचूलिका अधिकार - कहे या न कहे अर्थ का चिंतवन करना चूलिका कहलाता है। इस अध्याय में गाथा 398 से 450 तक निम्न तीन बिंदुओं पर विचार किया है :

(अ) नौ प्रश्न चूलिका - यथा - (1) उदय व्युच्छिति (अभाव) के पहले आठ कर्म प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति होती है, (2) 31 प्रकृतियों की उदय व्युच्छिति और बंध व्युच्छिति एक काल में होती है, (3) शेष 81 प्रकृतियों की उदय व्युच्छिति के पहले बंध व्युच्छिति होती है, (4) देवायु आदि 11 प्रकृतियों का पर के उदय से बंध होता है। मित्यात्व आदि 27 प्रकृतियों का बंध अपने उदय में होता है, (6) शेष 81 प्रकृतियाँ उभयबंधी हैं, (7) ज्ञानावरणादि

54 प्रकृतियाँ निरंतरबंधी हैं, (8) नरकगति आदि 34 प्रकृतियाँ सान्तरबंधी हैं तथा (7) सांतर निरंतर बंधी 32 प्रकृतियाँ हैं।

(ब) पाँच भागाहार चूलिका - परिणामों के निमित्त से शुभ के अशुभरूप संक्रमण को भागाहार कहते हैं। यह संक्रमण अपनी ही प्रकृति में होता है। मोहनीय और आयु कर्म को छोड़कर यह संक्रमण उत्तर प्रकृतियों में ही होता है जैसे- साता का असाता में और असाता का साता में। भागाहार पाँच प्रकार का होता है - उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रकृत, गुणसंक्रमण और सर्व संक्रमण। इनका स्वरूप गुणस्थानों के संदर्भ में किस-किस कर्म-प्रकृति में कौन-कौन भागाहार (संक्रमण) सम्भव है, और किस-किस भागाहार के अंतर्गत कौन-कौन प्रकृतियाँ हैं इसका वर्णन किया है।

(स) दशकरण चूलिका - करण का अर्थ अवस्था से है। करण दस होते हैं - (1) बंध, (2) उत्कर्षण, (3) संक्रमण, (4) अपकर्षण, (5) उदीरण, (6) सत्व, (7) उदय, (8) उपशम, (9) निधत्ति और (10) निकाचना। इस चूलिका में इनका स्वरूप, कर्म प्रकृतियों और गुणस्थानों में इनके अस्तित्व आदि का सविस्तार वर्णन किया है। कर्म-बंध आदि की उक्त क्रियाएँ परिणामों पर निर्भर करती है, जो जीव की स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता का परिचायक है।

5. बंध-उदय-सत्त्वरहित स्थान समुत्कीर्तन अधिकार - इस अधिकार में आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान, उदय स्थान और सत्व स्थान का विस्तृत कथन गाथा 451 से 784 तक किया है। तीसरे गुणस्थान के अलावा छठे गुणस्थान तक आयु को छोड़ शेष 7 कर्मों या आयु सहित आठ कर्मों का बंध होता है। तीसरे, आठवें एवं नौवें गुणस्थानों में आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों का बंध होता है। दसवें गुणस्थान में आयु और मोहनीय के अतिरिक्त 6 कर्मों का बंध होता है। ग्यारहवें, बारहवें एवं तेरहवें गुणस्थान में एक वेदनीय कर्म का ही बंध होता है। अयोगी में बंध नहीं होता।

सूक्ष्म सांपराय (10वें) गुणस्थान तक आठों मूल प्रकृतियों का उदय है। उपशांत और क्षीण कषाय गुणस्थान में मोह बिना सात कर्मों का उदय है। सयोगी-अयोगी में चार अघातिया कर्मों का उदय है। उपशांत कषाय गुणस्थान तक आठों मूल प्रकृतियों का उदय है। उपशांत-कषाय गुणस्थान तक आठों मूल प्रकृतियों का सत्व है। क्षीण-कषाय में मोह को छोड़कर शेष सात का ही सत्व है और सयोगी-अयोगी में चार अघातिया का सत्व है। इस प्रकार आठों कर्मों के आठवाँ, सातवाँ, छठा और पहला गुणस्थान बंध-स्थान है। आठवें, सातवें और चौथा गुणस्थान उदय स्थान तथा आठवाँ, सातवाँ और चौथा ये तीन सत्व स्थान हैं।

आठों कर्मों के बारे में बंध, उदय और सत्व का वर्णन गुणस्थान के अंतर्गत किया है। वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियों में एक जीव के एक समय में एक ही प्रकृति का बंध और उदय होता है। ज्ञानावरण और अंतराय की पाँच प्रकृतियों का एकसाथ बंध, उदय और सत्व होने से एक स्थान है। शेष दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म के बंध, उदय और सत्व स्थानों का सूक्ष्म वर्णन किया है। पश्चात् बंध, उदय और सत्व का त्रिसंयोगी भंग बनाकर

जीव-समास और मार्गणा की अपेक्षा कथन किया है, जैसे बंध में उदय सत्व, उदय में बंध और सत्व और सत्व में बंध और उदय। बाद में दो भंगों को आधार और एक को आधेय बनाकर कथन किया है। प्रसंगवश अन्य अनेक विषयों की भी जानकारी दी है।

6. प्रत्ययाधिकार (आश्रवाधिकार) - आत्म-प्रदेशों में कर्मों के आगमन एवं कर्मबंध के कारणों को प्रत्यय कहा जाता है। मूल आश्रव चार हैं - मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग। एकांत, विनय, संशय, विपरीत और अज्ञान ये मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं। पाँच इंद्रिय और मन की स्वच्छंदता तथा पाँच स्थावर एवं त्रस जीवों की अदया-ये 12 भेद अविरत के हैं। अनंतानुबंधी क्रोधादि सोलह कषाय; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तीन वेद - ये नौ-नोकषाय-इस प्रकार पच्चीस कषायें हैं। योग के 15 भेद हैं - चार मनोयोग, चार वचन योग और सात काय योग। इस प्रकार आश्रव के 56 भेद हैं। गुणस्थानों में पाये जाने वाले मूल प्रत्यय, उत्तर प्रत्ययों का उदय, अनुदय प्रत्यय एवं व्युच्छिति का विवरण इस प्रकार है -

गुणस्थान	मिथ्या.	सासा.	मिश्र	अवि.	देश.	प्रम.	अप्र.	अपूर्व.	अनि.	सू.सा.	उपमो.	क्षीणमो.	सयोग	अयोग
मूल प्रत्यय- उत्तर प्रत्यय-	4	3	3	3	3	2	2	2	2	2	1	1	1	0
प्रत्ययों का उदय	55	50	43	46	37	24	22	22	10से16	10	9	9	7	0
अनुदय प्रत्यय -	2	7	14	11	20	33	35	35	41से47	47	48	48	50	57
प्रत्यय-व्युच्छिति	5	4	0	9	15	2	0	6	4	1	0	4	7	0

(उपचार से)

इस प्रकार गाथा 785 से 810 तक गुणस्थानों में मूल और उत्तर प्रत्ययों और उनके भंगों का भी कथन किया है। किन-किन परिणामों से कौन-कौन से कर्मों एवं आयु का बंध होता है, इसका वर्णन भी किया है, ताकि आत्मार्थी-जन परिणामों के प्रति निरंतर जागरूक रह सकें। जो जीव अरहंत, सिद्ध, प्रतिमा, तप, जैन शास्त्र, गुरु और संघ के प्रतिकूल होकर उनके स्वरूप को विपरीत रूप से ग्रहण करता है उसे दर्शन मोह का बंध होता है। मिथ्यात्व, लोभ एवं रौद्र परिणामों से नरक आयु का बंध होता है। मिथ्यात्व और मायाचार से तिर्यंच गति का बंध होता है। मंद कषाय, दान, शील, संयम एवं मध्यम गुणों से मनुष्य आयु का बंध होता है। सम्यक्त्व, अणुव्रत एवं महाव्रत से देवायु का बंध होता है। मिथ्यादृष्टि जीव भी अकाम निर्जरा कर देवायु का बंध करता है। शुभ-अशुभ कर्मों का बंध भी परिणामों/भावों के अनुसार होता है।

7. भाव चूलिका अधिकार - 'भवनं भवतीति भावः' होना मात्र या जो होता है, सो भाव है। चेतन के परिणाम को भाव कहते हैं। जीव द्रव्य की अपेक्षा उनके पाँच भाव हैं - औपशामिक क्षायिक, क्षायोपशामिक, औदयिक और पारिणामिक भाव। प्रतिपक्षी कर्म के उपशम से उत्पन्न होनेवाले सम्यक्त्व और चारित्र औपशामिक भाव हैं। कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानावर्णादिक नौ भाव क्षायिक भाव हैं। कर्मों के क्षमोपशम से उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानादि 18 भाव क्षायोपशामिक भाव हैं। कर्मों के उदय से उत्पन्न होनेवाले रागादि इक्कीस भाव औदयिक

हैं, कर्मों के उदय से निरपेक्ष पारिणामिक भाव होते हैं, वे तीन हैं - जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्व। यह परम पारिणामिक भाव अनादि से जैसे हैं तैसे ही हैं। इस प्रकार पाँच मूल भावों के 53 भेद हैं और भंग विकल्पों की दृष्टि से बहुत हैं। इन भावों का और उनके स्व-संयोगी, बहुसंयोगी भंगो का गाथा सं. 811 से 895 तक में कथन किया है। परम-पारिणामिक भावों का आश्रय लेकर क्षायोपशमिक भावों के द्वारा उपशम/क्षायिक भाव प्राप्त होते हैं और औदयिक भावरूप दुख से मुक्ति मिलती है अतः भावों का स्वरूप और उनका महत्व समझना मोक्षमार्ग में अनिवार्य है।

इसमें 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी और 32 वैनयिकवादी - कुल 363 मिथ्यामतों का भी सविस्तार वर्णन किया है। अंत में यह घोषणा की है कि जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर समय है। स्यादवाद रूप सभी नय-समूहों का नाम जैनदर्शन है।

8. त्रिकरण चूलिकाधिकार - करण भाव को कहते हैं। करण तीन हैं - अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। अनंतानुबंधी चार कषायों के अलावा शेष चारित्र मोहनीय की 21 कर्म प्रकृतियों का क्षय या उपशम इन तीन करणों के कारण ही होता है। अधः प्रवृत्तकरण में ऊपर के समय के भाव नीचे के समय संबंधी भावों के समान होते हैं। यह भाव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवाले जीव के होते हैं। प्रत्येक समय में होनेवाले अपूर्व भावों को अपूर्वकरण कहते हैं। अनिवृत्ति करण में विवक्षित समय में भेदरहित सुनिश्चित समान भाव होते हैं। इन तीनों करणों से अनंतगुनी विशुद्धि होती है उनका काल अन्तरमुहूर्त्त मात्र है। तीनों करणों के स्वरूप वर्णन गाथा 896 से 912 तक अंक संदृष्टि द्वारा समझाया गया है। यह उल्लेखनीय है कि इन करणों के पुरुषार्थ से ही सम्यक्त्व होता है

9. कर्मस्थिति रचना अधिकार - जीव के भावों के अनुसार प्रति समय कर्मबंध होकर, उनका आठ कर्मों में विभाजन होता है, तदनुसार प्रत्येक कर्म के निषेकों की रचना होकर आबाधा काल के बाद कर्म उदय में आना शुरू हो जाते हैं और स्थितिपर्यंत खिरते रहते हैं। कर्मस्थिति की रचना का वर्णन गाथा क्रमांक 913 से 972 तक, ग्रन्थ की प्रशस्ति-सहित किया गया है। इसमें द्रव्य, स्थिति, गुण-हानि, नाना गुण-हानि आदि का स्वरूप अंक संदृष्टि की अपेक्षा किया गया है। ग्रन्थ के अंत में आचार्य नेमिचन्द्र ने बहुमुखी प्रतिभा के धनी, अपने शिष्य चामुण्डराय के कर्तृत्व की प्रशंसा कर उनके जयवंत होने की कामना की।

लब्धिसार-क्षपणासार

यह आचार्य नेमिचन्द्र की दूसरी कृति है जो गोम्मटसार का उत्तर भाग समझना चाहिए। गोम्मटसार के जीवकाण्ड में जीव के स्वरूप का और कर्मकाण्ड में जीव के द्वारा बांधे जानेवाले कर्मों का वर्णन है। लब्धिसार में जीव के कर्म-बंध से छूटने की प्रक्रिया अर्थात् लब्धिरूप सम्यग्दर्शन और सम्यक-चारित्र की उपलब्धि की प्रक्रिया सविस्तार दर्शायी है। इसमें 653 गाथाएँ हैं, जो छः अधिकारों में विभक्त हैं।

पहला अधिकार दर्शन-लब्धि का है, जिसमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ, तीन करणों का स्वरूप, उनके चार आवश्यक, अल्प-बहुत्व तथा चारों गतियों में उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति का विधान गाथा 1 से 109 तक किया है। द्वितीय अधिकार में क्षायिक सम्यक्त्व, अंतः काण्डक का विधान, दर्शन-मोहनीय की क्षपणा के 33 अल्प-बहुत्व के स्थान एवं क्षायिक सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन गाथा 110 से 167 तक किया है। अनंतानुबंधी क्रोधादि 4 कषाय एवं दर्शन मोह की 3 - कुल 7 प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल, अक्षय होता है। ऐसा जीव उसी भव में अथवा तीसरे/चौथे भव में मोक्ष जाता है। ये दो अधिकार दर्शन लब्धि के हैं।

तीसरा अधिकार चारित्र लब्धि का है, जिसमें गाथा संख्या 168 से 204 तक देश-चारित्र, सकल-चारित्र और उसके भेद तथा परिणामों की विशुद्धता आदि का वर्णन किया है। सकल-चारित्र तीन प्रकार का है - क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। क्षायोपशमिक चारित्र सातवें/छठे गुणस्थान में होता है। यह उपशम सम्यक्त्व या वेदक सम्यक्त्व सहित होता है। म्लेच्छ भूमि के मनुष्य भी आर्य मनुष्यों के समान सकल चारित्र धारण करने के पात्र हैं।

चौथा अधिकार चारित्रोपशमना अधिकार है। जिसमें उपशम चारित्र अर्थात् उपशांत-कषाय-वीतराग का वर्णन गाथा 205 से 391 तक है। अधःकरण आदि आठ अधिकारों द्वारा चारित्र मोह के उपशम का विधान वर्णित है। तीन करण का विधान एवं बंधापसरणादि का स्वरूप और उपशम श्रेणी चढ़नेवाले बारह प्रकार के जीवों की क्रिया का वर्णन किया है। वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षायोपशमिक चारित्र धारणकर जब औपशमिक चारित्र धारण करता है, तब वह क्षायिक सम्यक्त्व या द्वितियोपशम सम्यक्त्व धारण करता है। चारित्र मोह का उपशम करने पर जीव ग्यारहवें गुणस्थान में अंतरमुहूर्त्त तक रहता है बाद में पतन हो जाता है।

पाँचवाँ अधिकार क्षपणासार है जिसमें चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, तीन करणों का स्वरूप और उनकी भूमिका, स्थिति बंधापसरण, कषायक्षपणा, सूक्ष्म-बादर कृष्टियाँ आदि के अंतर्गत गाथा 392 से 510 तक वर्णन किया है।

छठा-कृष्टि वेदना अधिकार है जिसमें गाथा 511 से 653 तक कृष्टि वेदन का क्रम, संक्रमण, द्रव्य और बंध, द्रव्यादि का विधान, सूक्ष्म-सांपराय, सयोग-अयोग केवली और सिद्धों के स्वरूप का वर्णन है। चारित्र मोह का क्षय होने पर जीव बारहवें गुणस्थान क्षीणमोह में पहुँचता है। पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतरायकर्म क्षय कर तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञ/सर्वदर्शी हो जाता है। यहाँ अन्तर्मुहूर्त्त आयु शेष रहने पर विहित प्रक्रिया द्वारा, तीसरे शुक्ल ध्यान के द्वारा सर्व कर्म क्षयकर अयोग केवली हो जाता है। छः माह आठ समय में 608 जीव निगोद से निकलते हैं और इतने ही जीव सिद्ध होते हैं।

सर्वज्ञ-कथित सभी संसारी जीवों के साथ कर्म-बंध, कर्म-उदय एवं कर्म क्षय की यह क्रिया-प्रक्रिया अनादि काल से निर्बाध बिना किसी हस्तक्षेप या भेदभाव के स्वचालित-व्यवस्था के रूप में चल रही है। यह तो अज्ञानी संज्ञी जीवों का उत्पात है जो महासत्ता की इस व्यवस्था में अपने मोहराग-द्वेष के भावों के अनुसार हस्तक्षेप करने का विकल्प करते हैं। इसी विकल्प से छूटने का उपाय लब्धिसार में वर्णित है।

सम्यग्ज्ञान चंद्रिका

करणानुयोग के दोनों ग्रन्थों की कर्णाटक एवं संस्कृत भाषा की टीकाओं के आधार पर आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी जयपुर ने उक्त ग्रन्थों की अर्थ-संदृष्टि सहित देश-भाषा टीका बनायी। जिसका नाम 'सम्यग्ज्ञान चंद्रिका' रखा। जटिल, सिद्धांत ग्रन्थ की यह अदभुत टीका है जिसके शास्त्राभ्यास करने की प्रेरणा पं. टोडरमलजी ने पीठिका में की है। उनके अनुसार शास्त्राभ्यास से सम्यग्ज्ञान होता है और आनंद मिलता है, जो मोक्ष का कारण है।

त्रिलोकसार

आचार्य नेमिचंद्र की यह तृतीय कृति जैन-दर्शन के लोकानुयोग साहित्य से सम्बन्धित है जिसमें भूगोल-खगोल, ज्योतिष निमित्त एवं ग्रह-गणित आदि का विस्तृत विवरण दिया है। नाम के अनुरूप इस ग्रन्थ में तीन लोक अर्थात् ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक का वर्णन 1018 गाथाओं में किया है। आचार्यश्री के शिष्य माधवचन्द्र त्रैविधदेव ने इसकी संस्कृत टीका लिखी, साथ ही अपने गुरु की सहमति से त्रिलोकसार में यत्र-तत्र कुछ गाथाओं की रचना भी की। इसमें छह अधिकार हैं - लोक सामान्य, भावन लोक, व्यंतर लोक, ज्योतिर्लोक वैमानिकलोक और नरतिर्यगलोक।

प्रथम लोक सामान्य में मंगल निमित्त की चर्चा है, तथा श्रेणि के धन प्रमाण का निर्णय करने के लिए प्रमाणों का कथन है। भाव दो प्रकार का है - लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक के छः भेद हैं और लोकोत्तर के चार-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव। द्रव्यप्रमाण के दो भेद हैं - संख्या और उपमा। संख्या प्रमाण की चौदह धाराओं का कथन किया है। धाराओं का विस्तृत ज्ञान जानने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'परिकर्म' का उल्लेख किया है। इसके बाद उपमा प्रमाणों का कथन है। पश्चात् अधोलोक और उर्ध्वलोक का कथन है। अधोलोक में सात नरक-पृथ्वियों और नारकियों की जानकारी दी है।

द्वितीय भावन लोक अधिकार में भवनवासी देवों के भेद, उनके इंद्र, परिवार, चैत्य वृक्ष, आयु आदि का विस्तृत वर्णन दिया है।

तीसरे व्यंतर लोक में व्यंतर देवों के भेद, शरीर, वर्ण, चैत्य वृक्ष, इंद्रों के नाम, परिवार, देव और आयु आदि का वर्णन है।

चौथे ज्योतिर्लोक में ज्योतिषी देवों के पाँच भेदों का कथनकर 16 द्वीप एवं 16 समुद्रों का वर्णन किया है। पश्चात् ज्योतिर्विमानों का स्वरूप, चंद्रमा-सूर्य की संख्या, ताराओं की संख्या, चंद्र-सूर्य के चार क्षेत्र, दिन-रात की हानि-वृद्धि, नक्षत्रों के नाम तथा ज्योतिष्क देवों-देवियों की आयु का वर्णन है।

पाँचवें वैमानिक लोक में कल्प-कल्पातीत विमानों की जानकारी देकर सोलह स्वर्गों में विमानों की संख्या, इंद्रक विमानों का प्रमाणादि, सामाजिक देवों की संख्या, कल्पों में स्त्रियों की उत्पत्ति-स्थान, प्रविचार विक्रिया, अवधिज्ञान का विषय, लोकांतिक देवों का स्वरूप, देवांगनाओं की आयु आदि का वर्णन किया है। अंत में सिद्ध जीवों का कथन किया है।

छठे नर-तिर्यगलोक में जंबूद्वीप के भरत-ऐरावत क्षेत्रों, पर्वतों, पद्म आदि हृदों और उनसे निकलनेवाली नदियों, मेरु पर्वत तथा भद्रशाल वनों का वर्णन है। पश्चात् जंबू वृक्ष, भोग-भूमि,

और कर्म-भूमि आदि विदेह क्षेत्रों का वर्णन है। विदेह क्षेत्र में तीर्थकर आदि शलाका पुरुष सदैव विद्यमान रहते हैं। अतः उनकी संख्या, चक्रवर्ती की संपत्ति, राजा का लक्षण आदि बताया है।

पश्चात् भरत और ऐरावत क्षेत्र के छह कालों के परिवर्तन का विस्तार से वर्णन किया है। इन कालों में जीवों की आयु, शरीर-रचना, रंग आदि तथा 63 शलाका पुरुषों का वर्णन है। कल्की और अर्धकल्की के अत्याचारों का वर्णन सविस्तार करके इक्कीसवें कल्की के अत्याचारों से धर्म, राजा और अग्नि का अंत बताकर इस काल का अंत बताया है। पश्चात् उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ का वर्णन एवं 14 कुलकरों की उत्पत्ति आदि का वर्णन किया है।

जैन भूगोल के अनुसार आकाश के मध्य में लोक माना जाता है। जितने आकाश में जीव और पुद्गल आदि का आवास है वह लोक है, शेष अलोक है। लोक के निम्न तीन भाग हैं।

(1) अधोलोक में रत्नप्रभा आदि सात नरक पृथ्वियाँ हैं। रत्नप्रभा के तीन भाग हैं - खरभाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग। प्रथम दो भाग में भवनवासी और व्यंतर देव रहते हैं, तीसरे भाग में प्रथम नरक है। सात नरकों में 84 लाख बिल हैं, जिनमें नारकी रहकर अनंत दुःख भोगते हैं।

(2) मध्यलोक तिर्यग्लोक कहलाता है। इसमें असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। मध्य में जंबूद्वीप है। उसके चारों ओर लवण समुद्र है। उसके बाद घातकीखण्ड द्वीप है और कालोदधि समुद्र है। इस प्रकार एक के बाद एक द्वीप और समुद्र हैं। अंतिम द्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है। जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है। जम्बूद्वीप, विदेह क्षेत्र एवं सुमेरु पर्वत आदि का वर्णन है। इसमें मनुष्य और तिर्यचों का आवास है।

(3) ऊर्ध्वलोक में सोलह स्वर्ग हैं। जहाँ देवी-देवताओं एवं इंद्रों का आवास है। इसके बाद कल्प, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंच अनुत्तर और लोक के ऊपर अग्र भाग में सिद्धलोक है।

'द्रव्य संग्रह' नामक ग्रन्थ भी आचार्य नेमिचन्द्र की रचना मानी जाती है। किन्तु 'द्रव्य संग्रह' की विषय-सामग्री, प्रतिपादन की शैली आदि को दृष्टिगत कर ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के कर्ता गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती न होकर कोई अन्य मुनिराज सिद्धांतदेव नेमिचंद्र हैं। ऐसा पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार एवं अन्य विद्वानों का मत है। इस ग्रन्थ की बृहद संस्कृत टीका ब्रह्मदेव द्वारा की गई है।

संक्षेप में, सिद्धांतचक्रवर्ती नेमिचंद्र अपने समय के करणानुयोग के पारगामी, निरंतर अभ्यासशील, आत्मस्वरूप में रमण करनेवाले, निश्छल, अति गुणग्राही, निःसंकोची एवं तत्त्व-मर्मज्ञ आचार्य थे जिनके कर्तृत्व से जैनदर्शन का कर्म-निमित्तक आगम-साहित्य सदैव ऋणी रहेगा। निर्मल परिणामी महानुभाव, एकान्तिक मिथ्यामतों को त्यागकर स्यादवाद मुद्रित जिनवाणी में वर्णित महासत्ता की स्वचालित व्यवस्था स्वीकारते हुए जीव-कर्म-सम्बन्धों के दुरुह-जटिल अनादि-जाल को शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा तोड़कर परमात्मा बनेंगे, यही भावना है।

बी-369

ओ.पी. मिल्स कॉलोनी

अमलाई - 484117 (म.प्र.)

लिंपड़ अप्पीकीरई

लिंपड़ अप्पीकीरई एदीए णिय अप्पुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ 489 ॥
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुदिदट्ठं ॥ 490 ॥
किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।
लेस्साणं णिददेसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥ 493 ॥
वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण ॥ 494 ॥
छप्पयणीलकवोदसुहेमंबुजसंखसंणिहा वण्णो ।
संखेज्जाऽसंखेज्जाऽणंतवियप्पा य पत्तेयं ॥ 495 ॥

गोम्मटसार (जीव.)

- जिसके द्वारा जीव आत्मा को कर्मों से लिप्त करता है वह लेश्या है। कषाय के उदय से अनुरंजित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति लेश्या है। 'लिम्पति' अर्थात् इसके द्वारा जीव अपने पुण्य-पाप को अपनाता है। द्रव्य और भाव के आधार से लेश्या दो प्रकार की है - 1. द्रव्य लेश्या और 2. भाव लेश्या।
- लेश्या के मुख्यतः छः भेद हैं - 1. कृष्ण, 2. नील, 3. कापोत, 4. तेज, 5. पद्म और 6. शुक्ल।
- वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न शरीर का वर्ण द्रव्यलेश्या है। द्रव्य लेश्या के भी कृष्ण-नील आदि छः भेद हैं और अवान्तर भेदों से अनेक भेदवाले हैं।
- वर्णरूप में कृष्ण-नील आदि लेश्या क्रमशः भौरै, नीलम, कबूतर, स्वर्ण, कमल और शंख के समान होती है। अर्थात् जिनके शरीर का वर्ण भौरै के समान काला है उनके 'कृष्ण' द्रव्यलेश्या है। नीलम के समान वर्णवालों की द्रव्यलेश्या 'नील' है। कबूतर के समान वर्णवालों की द्रव्यलेश्या 'कापोत' है। स्वर्ण के समान पीतवर्णवालों की द्रव्यलेश्या 'पीत' है। कमल के समान वर्णवालों की द्रव्यलेश्या 'पद्म' होती है और जिनका शरीर का रंग शंख के समान सफेद होता है उनकी द्रव्यलेश्या 'शुक्ल' है।

सं.-डॉ. आ. ने. उपाध्याय,
पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

सिद्धान्त-शास्त्र-मर्मज्ञ नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

— आचार्य राजकुमार जैन

दिगम्बराचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जैन जगत के उन देदीप्यमान नक्षत्रों में हैं जिन्होंने अपने ज्ञानालोक से जैन सिद्धान्तों के गूढतम विषयों को अपनी लेखनी से न केवल विवेचित किया, अपितु उनके रहस्यों एवं सूक्ष्मत्व को प्रकटकर उनकी गहनता को स्पर्श करते हुए उन्हें भावी-पीढ़ी के सम्मुख प्रस्तुत किया। जैन सिद्धान्तों, उनकी सूक्ष्मता एवं रहस्यमयता की विवेचना कोई सामान्य बात नहीं है। जैन सिद्धान्तों का पारगामी, मर्मज्ञ एवं तलस्पर्शी ज्ञानवान् व्यक्ति ही सिद्धान्त-विषयों की विवेचना में समर्थ हो सकता है। नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का वैदूष्य एवं पाण्डित्य उनकी कृतियों से स्वतः स्पष्ट है। उनके द्वारा रचित गोम्मटसार (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड) की गहनता इसका सुपुष्ट प्रमाण है। इस ग्रन्थ के सदृश कोई दूसरा ग्रन्थ उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्यों द्वारा नहीं रचा गया। इस ग्रन्थ की विषय-प्रवणता एवं विवेचनशीलता अप्रतिम है। प्रतिपाद्य विषय-वस्तु भी उस रूप में अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य नेमीचन्द्र ने अपने बोध (ज्ञान) का संदर्शन निम्न रूप में किया है -

जह चक्केण य चक्की छक्खण्डं साहियं अविग्घेण।

तह मइ चक्केण मया छक्खण्डं साहियं सम्मं॥३९७॥गो.क.

अर्थात् जिस प्रकार (भरत क्षेत्र के) चक्रवर्ती ने छह खण्डों को अपने चक्ररत्न से निर्विघ्नरूप से अपने वश में किए उसी प्रकार मैंने भी (बुद्धिरूप) चक्र से छह खण्ड (जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंध स्वामी, वेदना खण्ड, वर्गणा खण्ड और महाबंध) रूप सिद्धान्त-शास्त्र को सम्यक् रूप से साधा (जाना) है।

सम्भवतः इसीलिए आचार्य नेमीचन्द्र विशेष उपाधि 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' से विभूषित एवं विख्यात हुए। निःसन्देह वे अत्यन्त प्रभावशाली और सिद्धान्त-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों से उनकी आगमज्ञता एवं अगाध ज्ञान-गरिमा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

यद्यपि आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जिन्होंने सिद्धान्त-ग्रन्थों की रचना की, के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि वे चामुण्ड राय के समकालीन ग्यारहवीं शती के विद्वान् थे। क्योंकि आचार्य नेमीचन्द्र ने चैत्रशुक्ला पंचमी, रविवार, 22 मार्च, सन् 1028 में चामुण्डराय द्वारा निर्मापित श्रवणवेलगोला में स्थापित गोम्मटस्वामी बाहुबली की अद्भुत, अप्रतिम, कलात्मक विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और चामुण्डराय दोनों अजितसेनाचार्य के शिष्य थे। चामुण्डराय ने नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का भी शिष्यत्व ग्रहण किया था। मंत्री प्रवर चामुण्डराय ने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से भी शिक्षा ग्रहण की थी। आचार्य अजितसेन गंगवशी राजा मारसेन, काचमल्ल चतुर्थ तथा सेनापति चामुण्डराय के ही गुरु नहीं थे, अपितु कन्नड़ भाषा के सुप्रसिद्ध कविरत्न, चामुण्डराय के सुपुत्र, जिनदेवन, कनकसेन द्वितीय के भी गुरु थे। गोम्मटसार के जीवकाण्ड में अजितसेनाचार्य का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है -

अञ्जञ्जसेणगुणगण समूह संधारि अजियसेण गुरु।

भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयऊ 1933।

अर्थात् आचार्य श्री आर्यसेन के अनेक गुणों को धारण करनेवाले तथा तीन लोक के गुरु आचार्य अजितसेन जिनके गुरु हैं वे श्री गोम्मटराय (चामुण्डराय) जयवन्त हों। चामुण्डराय की प्रेरणा से ही नेमीचन्द्राचार्य ने प्रश्नोत्तर-रूप में 'गोम्मटसार' की रचना की थी। 'गोम्मट' चामुण्डराय का घरेलू नाम था। कन्नड़ और मराठी भाषा में 'गोम्मट' शब्द का अर्थ व्यवहार उत्तम, सुन्दर, आकर्षक एवं प्रसन्न करनेवाला अर्थ में होता है। वस्तुतः 'गोम्मट' शब्द उत्तम का वाचक है और 'राय' राजा वाचक होता है। अतः गोम्मटराय का अर्थ हुआ - उत्तम राजा। चामुण्डराय वस्तुतः वीर सेनापति थे जिनके व्यक्तित्व में बाहुबल और बुद्धिबल, असि-कौशल और आत्म-कौशल तथा प्रचण्डता और साहित्यिकता का जो विलक्षण एवं अद्भुत समन्वय लक्षित होता है वह इन आचार्यों की गुरु-कृपा का ही फल था।

प्राप्त उल्लेखों से यह सुस्पष्ट है कि श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य का गोम्मटराय के प्रति विशेष स्नेह, लगाव और अनुग्रह था। यह भी सम्भव है कि गुरुभाई होने के नाते वे गोम्मटराय को विशेष सम्मान देते हों। क्योंकि उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ 'गोम्मटसार' में गोम्मटराय के नाम की प्रधानता

है जिसका अभिप्रेतार्थ गोम्मट के लिए खींचा गया पूर्व के षट्खण्डागम तथा धवला आदि ग्रन्थों का सार है, जैसा कि कर्मकाण्ड की निम्न गाथा से स्पष्ट है -

**गोम्मट-संगहसुत्तं गोम्मटसिंहरुवारि गोम्मट जिणो यो।
गोम्मटराय विणिर्मिमय दक्खिण कुक्कुडजिणो जयऊ ॥ 968 ॥**

अर्थात् गोम्मटराय के लिए (प्रेरणा रूप से) लिखा गया यह गोम्मट संग्रह सूत्र (गोम्मट-सार ग्रन्थ या पंच संग्रह), गोम्मट-शिखर या चन्द्रगिरि पर स्थापित मन्दिर में नेमिनाथ भगवान की एक-हस्तप्रमाण इन्द्रनीलमणि की प्रतिभा एवं दक्षिण कुक्कुट जिन-बाहुबलि की विशालकाय प्रसिद्ध मूर्ति - ये सदा जयवन्त हों।

नेमिचन्द्राचार्य की उपर्युक्त गाथा से यह सुस्पष्ट है कि वे गोम्मटराय को सदा-सदा के लिए स्थायीरूप से तीन महान कार्यों के लिए अमर घोषित कर गए। वस्तुतः इन्हीं तीन कार्यों में चामुण्डराय की ख्याति है। 1. गोम्मट संग्रह सूत्र का अर्थ है - गोम्मट के लिए किया गया साररूप संग्रह ग्रंथ जिसका नाम है - 'गोम्मटसार'। 2. 'गोम्मट-जिन' से अभिप्राय है नेमिनाथ भगवान की एक हाथप्रमाण इन्द्रनीलमणि की प्रतिभा जिसे गोम्मटराय (चामुण्डराय) ने बनवाकर गोम्मटशिखर - चन्द्रगिरि पर स्थित अपने मंदिर में स्थापित किया था, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि पहले चामुण्डराय वसति में विद्यमान थी। 3. 'दक्षिण कुक्कुट जिन' भगवान बाहुबली की उस विशाल एवं प्रसिद्ध मूर्ति का ही नामान्तर है जो श्रवणबेलगोल में स्थापित है। यह मूर्ति दक्षिण भारत में अवस्थित है और तपश्चरण के दौरान कुक्कुट-सर्पों, व्याल-लताओं से वेष्टित होने के कारण 'कुक्कुट जिन' कहलाती है। चामुण्डराय उनके परम भक्त थे और भगवान बाहुबली उनके ईश्वर थे। अतः वे 'गोम्मटेश्वर' कहलाते हैं।

श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य ने स्वयं को आचार्य अभयनन्दी का शिष्य बतलाया है। अभयनन्दी मूलसंघ देशीयगण के थे, वे उस समय के उच्चकोटि के सैद्धान्तिक विद्वान थे। निम्न गाथा से उनके इस कथन की पुष्टि होती है -

**इदि नेमिचंद्र मुणिणा अप्पसुदेणभयणंदि वच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥ 1018 ॥**

नेमिचन्द्र के अतिरिक्त वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी भी इनके शिष्य थे। ये दोनों नेमिचन्द्र के ज्येष्ठ गुरु भाई थे। इसलिए इन्होंने उन दोनों को गुरुतुल्य मानकर उन्हें नमस्कार किया है और स्वयं को उनका शिष्य बतलाया है। इसका प्रतिपादन गोम्मटसार, कर्मकाण्ड में निम्न प्रकार से किया है -

**णमिउण, अभयणंदि सुद-सायर पारगिंदणंदि गुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥ 785 ॥
णमह गुणरसणभूसण सिद्धंतामित्य महद्धि भवभावं।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदि गुरुं ॥ 897 ॥**

लब्धिसार में उन्होंने निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया है -

वीरिदणं दिवच्छेणप्सुदेण भयणं दिसिस्सेण ।
दंसण चरित्तलब्धि सु सूयिया णेमिचंदेण ॥ 652 ॥

आचार्य नेमिचन्द्र (11वीं शताब्दी) के समय यद्यपि सिद्धान्त-ग्रन्थों की पर्याप्तरूपेण उपलब्धता थी, किन्तु वे बृहत्काय और जनसामान्य के लिए न केवल दुर्लभ अपितु दुरूह भी थे। इसके अतिरिक्त तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार वे ग्रन्थ उस युग में सुरक्षा की दृष्टि से गुप्तरूपेण संरक्षित किए जाते थे। अतः सिद्धान्त-ग्रन्थों के स्वाध्याय की लोकोपयोगिता की दृष्टि से सारभूत ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव उस समय तीव्रता से किया जा रहा था। जनसामान्य द्वारा बृहत्काय ग्रन्थों का अध्ययन-स्वाध्याय दुष्कर प्रतीत हो रहा था। जिससे प्रेरित होकर आचार्य नेमिचन्द्र जैसे विद्वत्प्रवर ने बृहत्काय सिद्धान्त-ग्रन्थों का सार लिपिबद्ध किया। प्रमुख सिद्धान्त-ग्रन्थों में आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित 'कषायपाहुडसुत्त' तथा आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलि द्वारा रचित 'षट्खण्डागम' ईसा की द्वितीय शताब्दी तक प्रामाणिकरूप से प्रतिष्ठापित और प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके थे। इन्हें द्रव्यानुयोग और करणानुयोग-विषयक परम्परा में प्रमुख माना जाता है। परवर्ती आचार्यों द्वारा इन ग्रन्थों पर समय-समय पर टीकाएँ लिखी गईं जो सहस्रों श्लोकप्रमाण थीं। ग्यारहवीं शताब्दी तक वे टीकाएँ उपलब्ध रहीं, किन्तु उसके पश्चात् अनेक विलुप्त हो गईं। पाँचवीं शताब्दी के आचार्य यतिवृषभ के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें 'तिलोयपण्णत्ति' मुख्य है। इस ग्रन्थ में तीनों लोकों की बृहद् चर्चा करते हुए गणित के आधारों को पुष्ट किया गया है। इस प्रकार गणित, न्याय, प्रमाण, नय और निक्षेप से ओत-प्रोत विशाल सामग्री आचार्य नेमिचन्द्र के समय समुपलब्ध थी।

आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा लिखित ग्रन्थों का प्रतिपाद्य-विषय कर्मसिद्धान्त की विवेचना लिये हुए गणितीय उपक्रम है। उन्होंने विभिन्न स्थलों पर गणित का आधार लेते हुए सिद्धान्तों की विवेचना की है तो अनेक स्थलों पर गणित का दिग्दर्शन भी किया है। षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्ड से 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' की रचना की होगी और अन्तिम खण्ड महाबंध से 'कर्मकाण्ड' की रचना की होगी। इन ग्रन्थों से गणितीय आधार का निर्माण करना उनकी मौलिक विशेषता है। इसी प्रकार उन्होंने तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों से 'त्रिलोकसार' का निर्माण किया होगा तथा यतिवृषभादि आचार्यों के कषाय प्राभृत् चूर्णिसूत्र आदि ग्रन्थ के पश्चिम स्कन्ध से 'लब्धिसार' की रचना की होगी।

आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव-सिद्धान्त और कर्म-सिद्धान्त पर आधारित 'गोम्मटसार' ग्रन्थ की रचना की जो गणितीय उपक्रम एवं गणितीय संदृष्टियों से परिपूर्ण है। यह विशेषता अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलती है। गणितीय निर्वचन सामान्यतः अंक-पद्धति पर आधारित होते हैं। वे बिना प्रतीकों के सुगम्य और सुबोध नहीं हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि मौलिक एवं स्वतन्त्ररूप से नेमिचन्द्राचार्य के समय से ही चामुण्डराय आदि के द्वारा गणितीय प्रतीकों का सूत्रपात किया गया। क्योंकि नेमिचन्द्राचार्य के पूर्ववर्ती वीरसेनाचार्य की टीका में शब्दों और

वाक्यों तथा द्रव्यप्रमाणानुगम में अनेक स्थलों पर जो गणितीय निर्वचन आए हैं उनमें प्रतीकों की प्रतीति नहीं होती है। यही कारण है कि आचार्य वीरसेन से पूर्ववर्ती आचार्य भी टीकाएं सूत्रबद्ध ही करते रहे हैं। गणितीय प्रसंगों में प्रतीकबद्ध सामग्री नेमिचन्द्र के परवर्ती आचार्यों द्वारा की गई टीकाओं में ही मिलती है।

गोम्मटसार ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जीव तत्त्व एवं कर्म-सम्बन्धी विवेचना उसका मुख्य प्रतिपाद्य है। जीवकाण्ड में जीवन-वर्णन के अतिरिक्त जीव से सम्बद्ध अनेक प्रकरणों का भी वर्णन है। इसमें जीवों के भेद-प्रभेद बतलाते हुए उनके एक से दस तक, चौदह, उन्नीस, सत्तावन और अट्ठानवे भेद कहे हैं। इन्हें वे जीव-समास कहते हैं। टीकाकार ने गणित का उपयोग करते हुए 190, 380, 570 तथा 406 जीव समास भी गिनाए हैं। जीवकाण्ड में किए गए प्रतिपादन के अनुसार शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण नहीं होने तक जीव निवृत्य पर्याप्ति (रचना की अपूर्णता) एवं योग्य पर्याप्तियों के पूर्ण नहीं होने से अन्तमुहूर्त्त में मृत्यु को प्राप्त होनेवाले जीव को लब्धि-अपर्याप्त कहा गया है। जीवकाण्ड में प्राणसम्बन्धी विवरण के साथ-साथ पर्याप्तियों का विवेचन भी किया गया है। अन्य ग्रन्थों में जहाँ चौरासी लाख योनियों का वर्णन मिलता है, वहाँ जीवकाण्ड में तीन प्रकार की आकृतियों के साथ नौ गुण-योनियों और तीन जन्म-प्रकारों का भी विशद वर्णन किया गया है। इसी प्रकार आयु और अवगाहना सम्बन्धी विवरण के साथ-साथ कुल कोटियों एवं संज्ञाओं का वर्णन भी मिलता है। जीवकाण्ड में लगभग 500 गाथाओं में चौदह मार्गणाद्वारों के माध्यम से जीवों का विशद निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रीति-विहीनता, तिर्यक्ता, मन-कर्म-कुशलता, ऋद्धि-सुख-दिव्यता एवं जन्म-मरण रहितता के आधार पर पांच गतियों में जीवों के प्रमाण का विवरण है। मनुष्य जीवों के विषय में बतलाया गया है कि उनमें तीन चौथाई मानुषियाँ होती हैं। मानुषियों से तीन-सात गुने सर्वार्थसिद्धि के देव होते हैं। पर्याप्ति मनुष्यों की संख्या 3×10^{28} बतलाई गई है। इस प्रकार जीव से सम्बद्ध अनेक प्रकरणों का वर्णन जीवकाण्ड में किया गया है। इसकी एक विशेषता यह है कि प्रायः प्रत्येक विवरण में संख्यात्मकता या गणितीय संदृष्टियाँ पाई जाती हैं। इससे यह सुस्पष्ट है कि जीवकाण्ड का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विज्ञानों के बोधार्थ है, सामान्यजनों के नहीं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य के स्वोपार्जित कर्मों के कारण उसकी आत्मा को विभिन्न प्रकार के सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि भोगना पड़ता है। आत्मा को विभिन्न योनियों-गतियों में जन्म लेना पड़ता है और उसका शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है। इसके मूल में जो भाव है वह है - लेश्या। लेश्या-सम्बन्धी विस्तृत वर्णन गोम्मटसार के जीवकाण्ड में किया गया है जो जैनधर्म के मौलिक चिन्तन की ओर संकेत करता है। जीवकाण्ड में लेश्या सम्बन्धी विवेचन उसकी मौलिक विशेषता है।

लेश्या क्या होती है या लेश्या किसे कहते हैं - इसका समाधान करते हुए आचार्य प्रवर कहते हैं कि कषायों के उदय से रंजित योग-प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। लेश्याएँ जीव के औदयिक भाव हैं क्योंकि लेश्याएँ योग और कषायों के उदय से होती हैं। गोम्मटसार के जीवकाण्ड में लेश्या का लक्षण निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है -

जोग पउत्ती लेस्सा, कसाय उदयाणुरंजिया होई।

तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥490 ॥

अर्थात् कषायों के उदय से अनुरंजित (सहित) योगों की प्रवृत्ति का नाम ही लेश्या है। कर्म-ग्रहण करने की शक्ति का नाम योग है। अर्थात् अंगोपांग और शरीर नामकर्म के उदय से मनो-वर्गणा, वचन-वर्गणा और काय-वर्गणा - इन तीन वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा का अवलम्बन करनेवाली-कर्म ग्रहण करने की जीव की जो शक्ति है उसी का नाम योग है। उस योग के उक्त तीन वर्गणाओं के अवलम्बन करने से तीन भेद हो जाते हैं, यथा - (1) मनोयोग, (2) वचनयोग, (3) काय योग। जिस वर्गणा का अवलम्बन होता है, योग का नाम भी वही होता है। किन्तु किसी भी एक योग से कर्म-नोकर्म सभी का ग्रहण होता है। इतना विशेष है कि एक समय में एक ही योग होता है। योगों से प्रकृति-बन्ध और प्रदेश-बन्ध होते हैं। जिस जाति की योग-प्रवृत्ति होती है उसी जाति का कर्म ग्रहण होता है। इस जीव के प्रति समय में अनन्तान्त वर्गणाओं का समूहरूप एक समय-प्रबद्ध आता है। यथा -

परमाणूहि अणंतहि वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु।

ताहि अणंतहि णियमा समयबद्धो हवे एक्को ॥245 ॥ गो.जी.

अर्थात् अनन्त परमाणुओं की मिलकर वर्गणा संज्ञा है। ऐसी अनन्त वर्गणाओं का समूह समय-प्रबद्ध कहलाता है।

समय-प्रबद्ध के आने में योग ही कारण है। योग के निमित्त से ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म और आहारादि नोकर्म अनन्तान्त परमाणुओं के परिणाम को लिये हुए खिंचे आते हैं। जो कर्म आते हैं उनमें तीन प्रकार की वर्गणाएँ होती हैं -

1. गृहीत - जिनको इस जीव ने पहले भी कभी ग्रहण किया था।
2. अगृहीत - जिनको पहले कभी ग्रहण नहीं किया था।
3. गृहीतागृहीत - जिनमें से कुछ को पहले ग्रहण किया था कुछ नवीन ग्रहण किया है।

योग के साथ ही कषायों का उदय रहता है। वह (कषाय का उदय) आए हुए कर्मों में स्थिति और अनुभाग बन्ध डालता है। आए हुए कर्म, आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म कितने काल तक उहरेंगे और उनमें कितना रस पड़ा है - यह कार्य कषायों का है। अर्थात् कर्मों में नियत काल तक स्थिति डालना और उनकी इस शक्ति में हीनाधिकता करना कषायों का कार्य है। जिस प्रकार योगों की तीव्रता से अधिक कर्मों का ग्रहण होता है उसी प्रकार कषायों की तीव्रता से कर्मों में स्थितिबन्ध अधिक पड़ता है, मन्द कषायों से मन्द पड़ता है। इस प्रकार प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध योग से होते हैं और स्थितिबन्ध व अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं। योग-कषाय के समुदाय का नाम ही लेश्या है। इसलिये लेश्या ही चारों बन्धों का कारण है। लेश्या के दो भेद हैं - (1) द्रव्य लेश्या और (2) भाव लेश्या।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में प्रतिपादित तथ्यानुसार भाव लेश्या के अनुसार ही यह जीव शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करता है। यथा -

लिंपई अप्पीकीरई एदीए गियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुण जाणयक्खादा ॥489॥गो.जी.

अर्थात् जिन भावों से यह आत्मा पुण्य-पाप का बंध करता है उन्हीं भावों को आचार्यों ने लेश्या कहा है।

लेश्या के प्रभाव से जीव में कौन-कौन से शुभाशुभ भाव उत्पन्न होते हैं-इसका वर्णन विस्तार से गोम्मटसार के जीवकाण्ड में किया गया है। छहों लेश्याओंवाले जीवों की पहचान के लिए उन लेश्याओंवाले जीवों के कार्य का समुचित वर्णन गोम्मटसार के जीवकाण्ड की गाथाओं में किया गया है। कृष्ण लेश्यावाले जीव के निम्न लक्षण बतलाए गए हैं -

चण्डो णं मुच्चई वेरं भंडणसीलो य धरमदयरहियो।
दुट्ठो णं य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥509॥गो.जी.

अर्थात् कृष्ण लेश्यावाला जीव तीव्र क्रोध करता है, वैर को नहीं छोड़ता है, युद्ध (लड़ाई-झगड़ा) के लिए सदैव तत्पर रहता है, धर्म-दया से रहित होता है, दुष्ट होता है और किसी के वश में नहीं आता है।

नील लेश्यावाले जीव के निम्न लक्षण होते हैं -

मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णणी य विसयलोलो य।
माणी माई य तहा आलस्सो चव भेज्जो य ॥510॥
णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिक्खसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥511॥गो.जी.

अर्थात् जो जीव मन्द, बुद्धि से रहित, अज्ञानी, विषयों की लोलुपतावाला (इन्द्रियों के विषयाधीन), मानी, मायावी, आलसी, अभिप्राय को छिपानेवाला, अति निद्रालु, ठग और धन-धान्य की लोलुपतावाला होता है वह जीव नील लेश्यावाला बताया गया है।

कपोत लेश्यावाले जीव के निम्न लक्षण बतलाए गए हैं -

रुसई णिंदई अण्णे, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥512॥
णं य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो।
थूसई अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणि वडिंढ वा ॥513॥
मरणं पत्थेइ रणे, देइ सुबहुंगपि थुक्खमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥514॥गो.जी.

अर्थात् रुष्ट होनेवाला, दूसरों की निंदा करनेवाला, दूसरों को दोषी कहनेवाला, अत्यधिक शक्ति और भय करनेवाला, दूसरे की सम्पत्ति पर ईर्ष्या करनेवाला, दूसरे का तिरस्कार करनेवाला,

अपनी अत्यधिक प्रशंसा करनेवाला, दूसरे पर विश्वास नहीं करनेवाला, अपने समान दूसरों को दुष्ट समझनेवाला, स्तुति करने पर प्रसन्न होनेवाला, अपने हानि-लाभ को नहीं समझनेवाला, रण (युद्ध) में मरने की इच्छा रखनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवाले को धन देनेवाला और कार्य-अकार्य को नहीं समझनेवाला-ये लक्षण कापोत लेश्यावाले जीव के होते हैं।

पीत लेश्यावाले जीव के लक्षणों का प्रतिपादन जीवकाण्ड में निम्न प्रकार से किया गया है -

**जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी।
दयदारणदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥ 515 ॥**

अर्थात् जो कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझता है, सभी के ऊपर सम-भाव रखता है, जो दयाभाव रखता है और दान में तत्पर रहता है वह जीव पीत लेश्यावाला होता है।

पद्म लेश्यावाले जीव के निम्न लक्षण प्रतिपादित किए गए हैं -

**चागी भद्दो चोक्खो उज्जुवकम्मो य खमदि बहुगंपि।
साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ 516 ॥**

अर्थात् पद्म लेश्यावाला जीव त्यागी (त्याग-दान करनेवाला), भद्र परिणामी (भद्र परिणामवाला), सुकार्यकारी, उद्यम करनेवाला, क्षमाशील (सहनशील), साधु और गुरुओं की पूजा में रत होता है।

शुक्ल लेश्यावाले जीव के निम्न लक्षण जीवकाण्ड में बतलाए गए हैं-

**य ण कुणइ पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा गेहोवि य सुक्कलस्सस्स ॥ 517 ॥**

अर्थात् जो जीव पक्षपात नहीं करता है, निदानबंध नहीं करता है, सभी जीवों में समभाव रखता (समदर्शी होता) है, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष से रहित तथा कुटुम्बीजनों में ममत्वरहित होता है वह शुक्ल लेश्यावाला होता है।

लेश्या सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन जीवकाण्ड की मौलिक विशेषता है। इन्हीं लेश्यागत भावों के अनुसार यह आत्मा (जीव) आयु और गतियों का बंध करता है। जिस जीव की जैसी लेश्या होती है उसी के अनुसार उसे आयु और गति का बन्ध होता है। कृष्ण आदि छहों लेश्याओं के शुभ स्थानों में यह आत्मा जघन्य से उत्कृष्ट-पर्यन्त मन्द, मन्दतर, मन्दतम रूप से परिणमन करता है और उन्हीं के अशुभ स्थानों में उत्कृष्ट से जघन्यपर्यन्त तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्ररूप से परिणमन करता है। इस प्रकार प्रत्येक में इन छह रूपों से हानि-वृद्धि होती रहती है। आत्मा के संक्लेश परिणामों की जैसी-जैसी न्यूनता होती है वैसे-वैसे यह आत्मा कृष्ण लेश्या को छोड़कर नील लेश्या में आता है और नील लेश्या को छोड़कर कापोत लेश्या में आता है। संक्लेश की क्रमशः वृद्धि होने पर कापोत से नील और नील से कृष्ण लेश्या में आता है। इस प्रकार संक्लेश भावों की हानि-वृद्धि से यह आत्म अशुभ लेश्याओं में परिणमन करता है। इसी प्रकार विशुद्धि की

वृद्धि होने से यह आत्मा क्रम से पीत से पद्म और पद्म से शुक्ल में आता है और विशुद्धि की हानि होने से क्रम से शुक्ल से पद्म और पद्म से पीत लेश्या में आता है। इस प्रकार विशुद्ध भावों की हानि-वृद्धि से यह आत्मा शुभ लेश्याओं में परिणमन करता है।

जैसा कि विदित है कि समग्र जैन वाङ्मय अध्यात्म-शास्त्र कहलाता है और वह चार भागों(भेदों) में विभाजित है-प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। गोम्मटसार अध्यात्म ग्रन्थ है और यह द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत परिगणित है। यथार्थ वस्तु का श्रद्धान, वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान, तत्त्वानुचिन्तन और तदर्थ नियमित स्वाध्याय परमावश्यक है। अध्यात्म विषयों के ज्ञान के लिए स्वाध्याय किया जाता है और स्वाध्याय के लिए चारों अनुयोगों के अन्तर्गत सभी शास्त्रों का स्वाध्याय स्वशक्त्यानुसार अपेक्षित है। केवल शास्त्र विशेष का स्वाध्याय या मात्र तत्त्वचर्चा से शुद्ध-प्रबुद्ध आत्मा का लाभ सम्भव नहीं है, अपितु तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान और तदनु रूप उनका सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र (अनुपालन) भी परमावश्यक है।

इस दृष्टि से गोम्मटसार ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। उपयोगिता एवं सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से वह अप्रतिम है। जैनधर्म के सिद्धान्त ग्रन्थों में उसका प्रमुख स्थान है। ऐसे महत्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ का प्रणयन उसके रचयिता आचार्य के ज्ञान-गाम्भीर्य, सूक्ष्म दृष्टि एवं वैदूष्य को स्वतः प्रकट करता है।

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्
112/ए/ब्लाक-सी, पाकेट-सी,
शालीमार बाग, दिल्ली - 110052

पहिया जे छप्पुरिसा

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारणण मज्झदेसम्मि।
 फलभरियरूक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥507॥
 णिमूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं।
 खाउं फलाइ इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥508॥

गोम्मटसार (जीव.)

- कृष्ण आदि एक-एक लेश्यावाले छह पथिक मार्ग भूल गये। वन के मध्य में फलों से लदे हुए एक वृक्ष को देखकर वे सब अपने मन में विचार करने लगते हैं -
 - कृष्ण लेश्यावाला पथिक विचार करता है कि वृक्ष को जड़ से उखाड़कर इसके फल खाऊँगा।
 - नील लेश्यावाला पथिक विचारता है कि इस वृक्ष के स्कंध (तने) को काटकर फल खाऊँगा।
 - कपोत लेश्यावाला पथिक सोचता है कि इसकी बड़ी डाल काटकर फल खाऊँगा।
 - तेजो लेश्यावाला विचारता है — इसकी छोटी डाल काटकर फल खाऊँगा।
 - पद्म लेश्यावाला विचारता है — वृक्ष को हानि न पहुँचाकर केवल फल ही तोड़कर खाऊँगा।
 - शुक्ल लेश्यावाला विचारता है कि नीचे गिरे हुए फलों को ही खाऊँगा।
- इस प्रकार मनपूर्वक जो वचन होता है वह क्रम से उन लेश्याओं का कार्य होता है।

सं. - डॉ. आ. ने. उपाध्याय,
 पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

गोम्मटसार के कर्त्ता

— श्री रमाकान्त जैन

प्राकृत भाषा में क्रमशः 734 और 972 गाथाओं में 'जीवकाण्ड' और 'कर्मकाण्ड' नाम से दो खण्डों में निबद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ 'गोम्मटसार' नाम से सामान्यतया जाना जाता है। यह नाम इस ग्रन्थ पर अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा 1275 ई. में संस्कृत में रचित 'मन्दप्रबोधिका टीका' तथा केशववर्णी द्वारा 1359 ई. में संस्कृत मिश्रित कन्नड में रचित 'कर्णाटवृत्ति जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक टीका में मिलता है। मन्दप्रबोधिका टीका में इसे 'पञ्चसंग्रहशास्त्र' और कर्णाटवृत्ति में 'पञ्चसंग्रहप्रपञ्च' नाम भी दिया गया है। ग्रन्थकार ने 'कर्मकाण्ड' की गाथा 811 में इसका नाम 'गोम्मट संग्रह', गाथा 965 व 968 में 'गोम्मट संग्रह सुत्त' तथा गाथा 972 में 'गोम्मट सूत्र' दिया है।

'गोम्मटसार' शब्द का अभिधा अर्थ है गोम्मट का सार अर्थात् - गोम्मट नामक किसी विषयवस्तु अथवा ग्रन्थ का सार-संक्षेप। विवेच्य ग्रन्थ में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत से उद्धृत प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ के जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध इन छह खण्डों में विवेचित जीवादिक विषयों का सार-रूप में विवेचन हुआ है। इस विवेचित विषयवस्तु और महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के लिए 'गोम्मट' संज्ञा पढ़ने-सुनने में नहीं आई।

'गोम्मट संग्रह' का अर्थ गोम्मट का संग्रह या संकलन, 'गोम्मट संग्रह सुत्त' का अर्थ गोम्मट का संग्रह सूत्र अर्थात् किन्हीं गोम्मट द्वारा संग्रहीत सूत्र तथा 'गोम्मट सूत्र' का अर्थ गोम्मट का सूत्र होता है। 'कर्मकाण्ड' की गाथा -

गोम्मट संग्रह सुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मट रड्यं।
कम्माण णिज्जरट्टं तच्चट्ठवधारणट्टं च ॥965 ॥

अर्थात् कर्मों की निर्जरा और तत्त्व की अवधारणा के लिए गोम्मटदेव ने उत्तम गोम्मट संग्रह सूत्र की रचना की, से भी ग्रन्थ के उपर्युक्त नामों के उक्त अभिधा अर्थ ध्वनित होते हैं और ग्रन्थकार का नाम गोम्मटदेव अभिसूचित होता है।

यहाँ सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि यह गोम्मटदेव कौन हैं। संस्कृत टीकाकार ने इस गाथा की व्याख्या इस प्रकार की है -

इदं गोम्मटसंग्रहसूत्रं गोम्मटदेवेन श्रीवर्धमानदेवेन गोम्मटं।
नयप्रमाणविषयं रचितम् किमर्थं ? ज्ञानावरणादि-कर्मनिर्जरायम् ॥

अर्थात्-गोम्मटदेव श्रीवर्धमानदेव ने गोम्मट अर्थात् नय प्रमाणविषयक यह गोम्मटसार संग्रह सूत्र ज्ञानावरण आदि कर्मों की निर्जरा के लिए रचा। इसके अनुसार श्रीवर्धमानदेव ग्रन्थ के कर्ता हैं, किन्तु यह व्याख्या कितनी समीचीन है, इस पर विचार करना आवश्यक है। सर्वज्ञ केवल श्रीवर्धमानदेव (भगवान महावीर स्वामी) द्वादशांगवाणी के प्रस्तोता तो थे, किन्तु क्या उन्होंने स्वयं कोई ग्रन्थ रचा था, यह कल्पनातीत है। भगवान वर्द्धमान महावीर स्वामी के लिए प्रचलित विभिन्न नामों में गोम्मटदेव नाम भी सामान्यतया देखने-सुनने में नहीं आया है।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) की प्रस्तावना में सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने यह उल्लेख किया है कि 'गोम्मट' शब्द न तो संस्कृत भाषा के कोशों में मिलता है और न प्राकृत भाषा के कोशों में। डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का 'गोम्मट' शीर्षक से एक लेख अनेकान्त, वर्ष 4 की किरण तीन-चार में प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने यह उल्लेख किया है कि भारत की आधुनिक भाषाओं में मराठी ही ऐसी भाषा है जिसमें यह शब्द (गोम्मट) प्रायः व्यवहृत हुआ है। गोम्मट शब्द मराठी में एक विशेषण है और उसका अर्थ है साफ, सुन्दर, आकर्षक, अच्छा आदि। कोंकणी भाषा में भी 'गोम्टो' शब्द है और उसका वही अर्थ है जो मराठी में है। अक्षरशः 'गोम्मट' शब्द का अर्थ है - उत्तम आदि। कन्नड़ भाषा में भी 'गोम्मट' शब्द प्रसन्न करनेवाला या उत्तम के अर्थ में तथा विशेषण एवं नाम के रूप में व्यवहृत हुआ है।

'कर्मकाण्ड' की उपर्युक्त गाथा तथा गाथा 968, जो निम्नवत है, में यह शब्द विशेषण और नाम स्वरूप एक से अधिक वस्तुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है -

गोम्मट संग्रह सुत्तं गोम्मटसिंहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मिय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ ॥

पश्चिमी गंग नरेश मारसिंह द्वितीय (961-974 ई.) और राचमल्ल चतुर्थ (975-984 ई.) के यशस्वी सेनापति एवं महामात्य चामुण्डराय का एक अन्य नाम गोम्मट होने का उल्लेख एपिग्राफिया कर्णाटका-भाग दो में सं. 238 पर अंकित सन् 1180 ई. के एक शिलालेख में होने की बात शास्त्रीजी ने सूचित की है। डॉ. उपाध्ये ने भी अपने उपर्युक्त लेख में इसे चामुण्डराय

का घरेलू नाम बतलाया है और इस आधार पर चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोला में प्रतिष्ठापित बाहुबलि स्वामी की मूर्ति की 'गोम्मटेश्वर' अर्थात् 'गोम्मट के देवता' नाम से प्रसिद्धि होने की बात भी लिखी है। उक्त मूर्ति के 'गोम्मटेश्वर', 'गोम्मटेश', 'गोम्मटनाथ', 'गोम्मटस्वामी', 'गोम्मटजिन' नामों से विख्यात होने पर कालान्तर में दक्षिण भारत में अन्य स्थानों पर बनी बाहुबलि स्वामी की मूर्तियों को भी इन नामों से पुकारा जाने लगा और ये शब्द भगवान ऋषभदेव के कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि के नाम के पर्यायवाची-से हो गये। शरदचन्द्र घोषाल, नाथूराम प्रेमी, जुगमन्दरलाल जैनी, गोविन्द पै, श्रीकण्ठ शास्त्री और डॉ. हीरालाल जैन सदृश विद्वानों ने भी बाहुबलि का अपरनाम गोम्मट मान लिया। गोविन्द पै ने तो जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष 4, किरण 2 में प्रकाशित अपने लेख में यहाँ तक लिखा है कि संस्कृत शब्द 'मन्मथ', जिसका अर्थ प्रेम के देवता कामदेव है, से बिगड़कर 'गोम्मट' शब्द बना है। चूँकि जैन परम्परा में 24 कामदेवों में ऋषभपुत्र बाहुबलि प्रथम कामदेव माने गये हैं, अतः उन्हें बाहुबलि के लिये 'गोम्मट' नाम का प्रयोग युक्तिसंगत लगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'गोम्मटसार' ग्रन्थ में विवेचित विषय-वस्तु से और ग्रन्थ कर्तृत्व से बाहुबलि का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः कर्मकाण्ड की गाथा 965 में उल्लिखित 'गोम्मटदेव' और 'गोम्मट संग्रह सूत्र' के प्रसंग में गोम्मट का अर्थ बाहुबलि प्रासंगिक नहीं है। इस ग्रन्थ पर कन्नड़ में 'वीरमार्त्तण्डी' नामक टीका रचनेवाले उक्त चामुण्डराय अपरनाम गोम्मटराय के लिए भी 'गोम्मटदेवेन रइयं गोम्मट संग्रह सुत्तं' रूप से उल्लेख किया गया हो, ऐसा नहीं लगता।

गोविन्द पै ने अपने उक्त लेख में यह भी लिखा है कि 'गोम्मट' का अर्थ 'गो' अर्थात् 'वाणी के देवता' भी होता है और यह शब्द भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त होता था और यह कि यह शब्द किसी भी जिनेन्द्र या केवलि, जिनमें बाहुबलि भी सम्मिलित हैं, के लिए प्रयुक्त हो सकता है। उनकी इस प्रतिपत्ति के परिप्रेक्ष्य में तो कर्मकाण्ड की गाथा 965 की संस्कृत टीका में 'गोम्मटदेवेन श्रीवर्धमानदेवेन' लिखा जाना भी असंगत नहीं प्रतीत होता, ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् रचनाकार ने भक्तिवश द्वादशांगवाणी के प्रस्तोता सर्वज्ञ केवलि श्रीवर्धमानदेव (भगवान महावीर स्वामी) को रचनाकार का मान देने के लिए ऐसा किया हो।

जब भगवान महावीर स्वामी व बाहुबलि स्वामी गोम्मट कहला सकते हैं और चामुण्डराय का घरेलू नाम गोम्मट रहा हो सकता है, तब रचनाकार का स्वयं का नाम भी गोम्मटदेव रहे होने की सम्भावना को पूर्णतया अमान्य नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा रहा, तो रचनाकार ने उक्त गाथा 965 में 'गोम्मटदेवेण' अपने लिए भी अभिधा अर्थ में प्रयुक्त किया हो सकता है। किन्तु यह अभी गवेषणा का विषय है। ग्रन्थ अपने रचनाकार के विषय में प्रायः मौन है। केवल 'कर्मकाण्ड' की गाथा 408 में अभयनन्दि का सादर उल्लेख करते हुए नेमिचन्द्र नाम आया है और गाथा 967, जो एक रूपक के रूप में है और निम्नवत है, से रचनाकार का नाम बेमिचन्द्र ध्वनित होता है -

सिद्धंतुदयतडुगय गिम्लवर पोमिचन्द्रकरवलिया।
गुणरयणभूषणंबुहिवेला भरउ भुवणयलं॥

जिसका अर्थ है कि सिद्धान्तरूपी उदयाचल के तट पर उदित निर्मल नेमिचन्द्र की किरण द्वारा उठी गुणरत्नभूषणरूपी अम्बुधि (सागर) की बेला (मतिरूपी लहरें) भुवनतल को पूरित करें।

इस ग्रन्थ के टीकाकारों ने भी इस ग्रन्थ का कर्ता नेमिचन्द्र को माना है। इन टीकाओं से विदित होता है कि गंग राजवंश के मुकुटमणि राजसर्वज्ञ अनेक गुणनामवाले श्रीमद् राचमल्ल देव महाराज के महामात्य श्रीमत् चामुण्डराय, जिनकी रणरंगमल्ल, असहाय पराक्रम, गुणरत्नभूषण, सम्यक्त्व रत्ननिलय आदि सार्थक नामों से ख्याति थी, के द्रव्यानुयोग प्रश्नों के अनुरूप शिष्यजनों को प्रबोधित करने के लिए श्रीमत् नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने महाकर्मप्रकृतिप्राभृत से उद्धृत प्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थ के जीवस्थान आदि छह खण्डों के प्रमेयांश का उद्धार करके गोम्मतसार अपरनाम पञ्चसंग्रह की रचना की थी। इन टीकाओं से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ की रचना चामुण्डराय के निमित्त हुई थी। अतः चामुण्डराय, जिनका घरेलू नाम गोम्मटराय था और जिनका उस घरेलू नाम से ही कदाचित् उनका बालसखा होने के कारण ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में कई स्थानों पर सादर उल्लेख किया है, के निमित्त रचना करने के कारण इस ग्रन्थ का नाम ग्रन्थकार ने 'गोम्मत संग्रह', 'गोम्मत संग्रह सूत्र' और 'गोम्मत सूत्र' अर्थात् गोम्मटराय के निमित्त बनाया गया संग्रह सूत्र दिया है। इसी प्रकार टीकाकारों द्वारा दिये गये नाम 'गोम्मतसार' का आशय गोम्मटराय के निमित्त सार-रूप में रचे गये सिद्धान्त ग्रन्थ से है, यद्यपि उन्होंने चामुण्डराय के नाम और विरुद्धों के साथ गोम्मटराय नाम का उल्लेख नहीं किया है।

टीकाकारों द्वारा इस ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त 'पञ्चसंग्रहशास्त्र' और 'पञ्चसंग्रहप्रपञ्च' नामों की सार्थकता की विवेचना करते हुए पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपनी उक्त प्रस्तावना में सूचित किया है कि वर्तमान में 'पञ्चसंग्रह' नाम के चार ग्रन्थ हैं - दो प्राकृत में और दो संस्कृत में। प्राकृत में एक पञ्चसंग्रह दिगम्बर परम्परा का है और एक श्वेताम्बर परम्परा का। संस्कृत के दोनों पञ्चसंग्रह प्राकृत पञ्चसंग्रह के रूपान्तर हैं। दिगम्बर प्राकृत पञ्चसंग्रह वीरसेन स्वामी की धवला टीका से भी प्राचीन है। इस पञ्चसंग्रह में पाँच प्रकरण हैं - जीवसमास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्तिका। धवला में इस प्राकृत पञ्चसंग्रह की बहुत-सी गाथाएँ उद्धृत हैं। सत्प्ररूपणा की धवला टीका में उद्धृत लगभग 125 गाथाएँ जीवसमास नामक अधिकार की हैं तथा कुछ गाथाएँ पञ्चसंग्रह के अन्य अधिकारों की भी उद्धृत हैं। चूँकि इसी धवला टीका के आधार पर आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मतसार का संग्रह किया था, अतः पञ्चसंग्रह से परिचित उसके टीकाकारों ने उसे पञ्चसंग्रह नाम देकर उचित किया है।

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने जीवकाण्ड पर अपने सम्पादकीय में अन्तर्साक्ष्यों और बहिर्साक्ष्यों के आधार पर इसका रचनाकाल 983-984 ई. अनुमानित किया है। इस ग्रन्थ पर रची गई प्रमुख टीकाएँ पाँच हैं - (1) चामुण्डराय द्वारा उसी काल में कन्नड में रची 'वीरमार्त्तण्डी टीका' जो अब अनुपलब्ध है; (2) अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा संस्कृत में रचित 'मन्दप्रबोधिका टीका'; (3) केशववर्णी द्वारा संस्कृत मिश्रित कन्नड में रचित 'कर्णाटवृत्ति जीवतत्त्वप्रदीपिका'; (4) केशववर्णी की टीका के आधार पर भट्टारक नेमिचन्द्र (1515 ई.) द्वारा चित्तौड़ में संस्कृत

में रचित 'जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका' और (5) 1761 ई. में जयपुर में पं. टोडरमल द्वारा दूंदारी भाषा में रचित 'सम्यक्ज्ञान-चन्द्रिका टीका।'

षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में पारंगत होने के फलस्वरूप आचार्य नेमिचन्द्र 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' के रूप में विख्यात हुए। गोम्मटसार से इनके गुरु आदि का कोई स्पष्ट परिचय नहीं मिलता है। गोम्मटसार के अतिरिक्त त्रिलोकसार (973 ई.), लब्धिसार, क्षपणसार और कर्मप्रकृति इनकी रचनाएँ मानी जाती हैं, जिनमें प्रथम तीन ही उपलब्ध हैं। द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना का श्रेय भी शरदचन्द्र घोषाल और पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इन्हें दिया है जबकि पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने उसे परवर्ती किसी अन्य नेमिचन्द्र की कृति माना है।

त्रिलोकसार की अन्तिम गाथा से विदित होता है कि उसके रचनाकार नेमिचन्द्र मुनि के गुरु श्रुतज्ञानी अभयनन्दि थे। कर्मकाण्ड की गाथा 408, 436 और 785 में भी ग्रन्थकार ने अभयनन्दि का गुरु रूप में सादर उल्लेख किया है और गाथा 396, 436 और 785 में इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि और वीरनन्दि का भी उनके साथ गुरु-तुल्य सादर उल्लेख किया है।

यद्यपि चामुण्डराय के गुरु आर्य आर्यसेन के शिष्य आचार्य अजितसेन थे, वह नेमिचन्द्र को, जो कदाचित् उनके बालसखा रहे, गुरुवत् सम्मान देते थे। श्रवणबेलगोला में बाहुबलि मूर्ति के प्रतिष्ठा महोत्सव में भी नेमिचन्द्र आचार्य अजितसेन के साथ रहे थे। कदाचित् मूर्ति की प्रतिष्ठा के उपरान्त उसकी देखरेख का दायित्व चामुण्डराय ने इन्हें सौंपा था और श्रवणबेलगोला मठ में रहते हुए इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की थी। नेमिचन्द्र अपने विषय में पारंगत विद्वान् लेखक थे। इनकी रचना गोम्मटसार इतनी लोकप्रिय हुई कि लोग तद्विषयक षट्खण्डागम और उस पर रचित विशद टीकाओं का अध्ययन करना भूल चले।

ज्योति निकुंज

चार बाग

लखनऊ - 226004

लक्खणमेयं

चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।

दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स॥509॥

मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य।

माणी माई य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य॥510॥

णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिक्खसणा य।

लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स॥511॥

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।

असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो॥512॥

ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो।

थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणि वडिंठ वा॥513॥

मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगंपि थुक्खमाणो दु।

ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स॥514॥

गोम्मटसार (जीव.)

- तीव्र क्रोधी हो, वैर न छोड़े, लड़ाई-झगड़ा करने का स्वभाव हो, दया-धर्म से रहित हो, दुष्ट और निर्दय हो, किसी के वश में न आता हो - ये कृष्ण लेश्यावाले के लक्षण हैं। 509।
- स्वच्छन्द अथवा कार्य करने में मन्द हो, बुद्धिहीन हो, वर्तमान कार्य को न जानता हो, अज्ञानी हो, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषय में लम्पट हो, अभिमानी हो, कुटिल वृत्तिवाला मायाचारी हो, कर्त्तव्य कर्म में आलसी हो, दूसरों के द्वारा जिसका अभिप्राय न जाना जा सके - ये सब भी कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं। 510।
- बहुत सोता हो, दूसरों को खूब ठगता हो, धन-धान्य की तीव्र लालसा हो - ये संक्षेप में नील लेश्यावाले के लक्षण हैं। 511।
- दूसरों पर बहुत क्रोध करता हो, दूसरों की बहुत निन्दा करता हो, दूसरों को बहुधा दोष लगाता हो, बहुत शोक करता हो, बहुत डरता हो, दूसरों को अच्छा न देख सकता हो, अन्य की निन्दा और अपनी बहुत प्रशंसा करता हो, दूसरों का विश्वास न करता हो, दूसरों को भी अपनी ही तरह अविश्वास करनेवाला मानता हो, प्रशंसा करनेवाले पर परम प्रसन्न हो, अपनी और पर की हानि-वृद्धि की परवाह न करता हो, युद्ध में मरने को तैयार हो, अपनी स्तुति करनेवाले को बहुत कुछ दे डालता हो, कार्य-अकार्य को न जाने - ये सब कपोत लेश्यावाले के लक्षण हैं। 512-514।

सं. - डॉ. आ. ने. उपाध्याय,

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

गोम्मटसार में कर्मबंध : कारण और निवारण

— विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया

जड़ और चेतन का समवाय संसार है। संसरणशीलता संसार का मूल स्वभाव है। इस स्वभाव को कर्म सक्रिय रखते हैं। दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय नामक इन वसु कर्मों में संसार के अन्य सभी कर्मकुल अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। जीव इन्हीं कर्मों के कारण सांसारिक चक्रमण में अनादि काल से सक्रिय है। जन्म-मरण के दारुण दुःखों को भोग रहा है।

कर्म-जाल में फँसकर प्राणी उससे निकलने का बार-बार प्रयास करता है पर इससे निकल पाना इतना सरल और सुगम नहीं है। इससे निकलने का एकमात्र उपाय कर्म-जाल काटना ही है। सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्रकृत 'गोम्मटसार' के अनुसार 'वसुकर्म बंध के कारण और निवारण' विषयक संक्षिप्त चर्चा करना हमारा यहाँ मूलाभिप्रेत है।

जीव और उसकी पर्याय-शरीर का सम्बन्ध कृत नहीं प्राकृत है और इसीलिए वह कहलाता है - प्रकृति। प्रकृति को शील और स्वभाव से भी अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार सोने में मल का अनादिकालीन सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और शरीर का सम्बन्ध भी अनादि है। इस सम्बन्ध का कोई कर्ता नहीं है। इसकी यह दशा स्वयंभू है।¹

द्रव्य कर्म आठ होते हैं जिनको दो भेदों में विभाजित किया गया है - घातिया और अघातिया। दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म आत्मा के गुणों को घातते हैं अतः ये घातिया कर्म कहलाते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म आत्मा के गुणों का घात नहीं करते हैं अतः उन्हें अघातिया कर्म कहा जाता है।²

कर्मों की अवस्था से सम्बन्धित कतिपय शब्दों का विशिष्ट प्रयोग किया जाता है, यथा - उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, उदय, उपशान्त, निधत्त तथा निकाचित। इन शब्दों के प्रयोग और प्रयोजन विशिष्ट होने से आज ये सभी पारिभाषिक शब्द बन गए हैं। कर्मबंध, स्थिति तथा रस-फल का बढ़ना वस्तुतः उत्कर्षण कहलाता है। किसी कर्मरूप प्रकृति का किसी अन्यकर्म प्रकृति रूप में बदलना संक्रमण तथा किसी कर्म की स्थिति या अनुभाग का कम होना कहलाता है - अपकर्षण।³

अनोदय कर्म को उदय में लाना उदीरणा और कर्म का स्वकाल में प्राप्त-फल देना वस्तुतः कहलाता है - उदय।⁴ जो कर्म उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके उसे उपशान्त और जो कर्म उदीरणा तथा संक्रमण दोनों से वंचित रहें उसे निधत्त कहते हैं। जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण अवस्थाएँ न हों अर्थात् जिनका फल देना सुनिश्चित हो उसे कहते हैं - निकाचित।⁵

ज्ञान और श्रद्धान् अन्वोन्याश्रित सम्बन्ध रखते हैं। श्रद्धान् के बिना ज्ञान और बिना ज्ञान के श्रद्धान् कभी पूर्ण नहीं हो पाते। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इनके बन्ध में वे सभी कारण पृथक्-पृथक् रूप से आधारभूत हैं।

जो-जो कर्म-बंध के कारण हैं उन सबका अभाव ही बन जाता है - निवारण।

ज्ञानवन्तों की अविनय करना, ज्ञान-प्राप्ति तथा ज्ञान-दान में अन्तराय उत्पन्न करना, जो ज्ञान प्रशंसनीय है उसकी निर्बाध अनुशंसा न करना तथा उसके प्रति द्वेष रखना, साथ ही ज्ञानवन्तों की तृषा और क्षुधा-शान्ति में व्यवधान उत्पन्न करना, सिद्ध-प्रसिद्ध धार्मिक मान्यताओं अथवा धारणाओं में दूषण लगाना, तात्त्विक बातों में अभिरुचि न लेना तथा उनके साथ द्वेष रखना, ज्ञान को छिपाना, अपने गुरु के नाम को उजागर न करना, किसी के प्रशंसित प्रवचनों पर रोक लगाना तथा निन्दा करना - ये सब कारण हैं जिनसे दर्शनावरणीय और ज्ञानावरणीय कर्म बँधते हैं। उपर्युक्त कारणों के विपरीत आचरण करने से दर्शनावरणीय और ज्ञानावरणीय बंध के निवारण होते हैं।⁶

मोह वस्तुतः कर्मबंध का मेरुदण्ड है। मोह के वशीभूत प्राणी मिथ्यात्व से प्रभावित हो जाता है। भव-भ्रमण का मूलाधार है - मोह। मोह कर्म-बंध को दो भेदों में विभक्त किया गया है -

- (1) दर्शन मोह और
- (2) चारित्र मोह।

जो जीव अरिहंत-सिद्ध की प्रतिमा, तप, शास्त्र, गुरु, धर्म और संघ के प्रतिकूल होकर इनका विरोध और निन्दा करे वह जीव दर्शन मोह कर्म बाँधता है, फलस्वरूप वह सतत भव-भ्रमण करता है। भव-भ्रमण की कहानी लम्बी है। जिसके श्रद्धान और सम्मान में इन सभी प्रतिकूलताओं के प्रति कोई किंचित् लगाव नहीं होता ऐसे जीवों के लिए दर्शन मोहनीय कर्म-बंध का निवारण संभव है।⁷

जिन जीवों की चर्या में तीव्र कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्य, रति, अरति आदि अल्प कषाय हैं और जिनकी चर्या राग-द्वेष से संतप्त है उनके चारित्र गुण का घात होता है। इसके विपरीत आचरण करने से चारित्र मोहनीय कर्म-बंध का निवारण सम्भव है।⁸

आत्मिक गुणों को घातनेवाले कर्म-बंधों में अन्तराय कर्म-बंध का स्थान अन्तिम और उल्लेखनीय है। जो जीव अपने या पर के प्राणों की हिंसा करने में लीन हो तथा जो भगवान् की उपासना और मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाले हों उनको वस्तुतः अन्तराय कर्म का बंध होता है। इस कर्म-बंध के उदय से मनोरथ और अभिप्रेत प्राप्ति में बाधा और व्यवधान होता है। उपर्युक्त कारणों के विपरीत आचरण करने से इस प्रकार के कर्म-बंध का निवारण कहलाता है।⁹

घातिया कर्मबंध की भाँति अघातिया कर्मबंध के कारण और निवारणपरक तथ्य पर विचार किया जा सकता है। इस क्रम में सर्वप्रथम हम यहाँ आयु-कर्म-बंध के कारण पर विचार करते हैं। जो जीव मिथ्यादृष्टि हो, अति आरम्भी हो, शीलरहित हो, तीव्र लोभी हो, रौद्र परिणामी हो और पाप करने में पटु हो; वह वस्तुतः नरकायु का बंध बाँधता है। इसके विपरीत आचरण करने से इस बंध का निवारण होता है।¹⁰

नरक गति के साथ ही जब जो जीव विपरीत मार्ग का उपदेशक हो, सम्यक् मार्ग का विनाशक हो, जो मायाचारी हो, अर्थात् गूढ़ हृदयी तथा रहस्यमयी हो, दुर्जन हो और माया-मिथ्यात्व तथा निदान शल्यवाला हो, ऐसा जीव तिर्यच गति का बंध बाँधता है। इसके विपरीत आचरण करने से इसका निवारण होता है।¹¹

मनुष्य गति की अपनी महिमा है। इस गति को पाने के लिए प्राणी में अनेक गुणों को जगाने की आवश्यकता होती है। वह प्राणी जो मंदकषाय स्वभाववाला होता है, दानी होता है, शील और संयम की अपेक्षा और आकांक्षा रखता हो तथा जो मध्यम गुण-सम्पन्न हो, वह मनुष्य आयु का बंध बाँधता है।¹²

मनुष्य गति पाने के लिए देवगण भी लालायित रहते हैं। इसका मूल कारण है कि इसी गति को प्राप्त कर प्राणी तप और संयम-साधना करने का सुयोग प्राप्त करता है ताकि वह जन्म-मरण से मुक्त्यर्थ अपने कर्म-कुल को क्षयकर मोक्ष प्राप्त कर सके।

इस दृष्टि से मनुष्य गति के बंध के निवारण का कोई औचित्य नहीं है, तथापि भव-भ्रमण के प्रत्याशी अज्ञानी जीव इसके विपरीत कार्य करने से मनुष्य गति-बंध से मुक्त हो सकता है।

देव-गति सुख-भोग भोगने तथा आत्म-उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए परम-आवश्यक है। जो जीव सम्यग्दृष्टि है वह मात्र सम्यक्त्व के द्वारा, अथवा मात्र अणुव्रतों और महाव्रतों के बलबूते पर तथा जो मिथ्यादृष्टि है वह आत्म-बोध के अभाव में भी तप से या अकाम निर्जरा से देवायु का बंध बाँधता है।¹³

सम्यग्दर्शन के कारण इन्द्रगण अपने अगृहीत कर्मक्षय करने के लिए तप और संयम-साधना हेतु मनुष्य गति प्राप्त करने की मंगल कामना करते हैं। देव-लोक में तप और संयम-साधना सम्पन्न करना प्रायः सुलभ नहीं है।

जो जीव मन, वचन और शरीर से कुटिल हो, मायाचारी हो, आत्म-प्रशंसक हो अथवा आकांक्षी हो वह अशुभ नाम कर्म का बंध बाँधता है। इनके विपरीत कार्य करनेवाला जीव शुभनाम कर्म बाँधा करता है।¹⁴

वसुकर्मों की शृंखला में गोत्र-कर्म-बंध अन्तिम है। जो जीव अरिहंतादि पंच परमेष्ठियों में भक्ति रखता हो, शास्त्रों में रुचिवंत हो, सद् विचारोंवाला हो वह उच्चगोत्र के बंध बाँधता है जबकि इसके विपरीत करनेवाला जीव नीच गोत्र का बंध बाँधता है।

इस प्रकार प्राणी जो अनादिकाल से वसु कर्मों के बंध में बँधता चला आ रहा है, उसके निवारणार्थ उसे चारित्र-साधना करने के लिए तदनुसार चर्या करना परम आवश्यक होता है। सार और सारांश में कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व कर्म बंध का मुख्य कारण है और निवारण का मुख्य आधार है - सम्यक्त्व।

इत्यलम्!

- (1) पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइ संबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥ 1 ॥ - गोम्मटसार, कर्मकाण्ड
- (2) आवरण मोहविग्घं घादी जीव गुण घादणत्तादो।
आउगणाम गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥ 9 ॥ - वही
- (3) कम्माणं संबंधो बंधो उक्कट्टणं हवे बड्ढी।
संकमण मणत्थगदो हाणी ओकेट्टणं णाय ॥ 438 ॥ - वही
- (4) अण्णत्थठियस्सुदये संथुहणंमुदीरणा हुअत्थित्तं।
सत्तं सकालपत्तं उदओ होदित्ति णिद्धिट्ठो ॥ 439 ॥ - वही
- (5) उदये संकममुदये चउसुवि दादुंकेमेण णोसक्कं।
उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं होदि जं कम्मं ॥ 440 ॥ - वही

- (6) पडिणी गमन्तराए उवघादो तप्पदो सणिण्हवणो ॥
आवरण दुगंभूयो बंधादि अच्चासणाएदि ॥ 800 ॥ - वही
- (7) अरहंत सिद्धचेदिय तवसुद गुरुधम्म संघ पडिणीगो ।
बंधरि दंसण मोहं अणंत संसारिओ जेण ॥ 802 ॥ - वही
- (8) तिक्व कसाओ बहुमोह परिणदो राग-दोस-संतत्तो ।
बंधदि चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्त गुणघादी ॥ 803 ॥ - वही
- (9) पाणवधादीसु रदो, जिण पूजा मोक्खमग्ग विग्घयरो ।
अज्जेइ अंतरायं, ण लहइ जं इच्छियं जेणं ॥ 810 ॥ - वही
- (10) मिच्छो हु महारंभो, णिस्सीलो तिक्वल्लोह संजुत्तो ।
णिर या उगं णि बंधइ, पावमई रुद्ध परिणामी ॥ 804 ॥ - वही
- (11) उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो, गूढहियय माइल्लो ।
सठसीलो य ससल्लो, तिरयाउं बंधदे जीवो ॥ 805 ॥ - वही
- (12) पयडीए तणुकसाओ दाणरदी सीलसंजमविहीणो ।
मज्झिम गुणेहिं जुत्तो मणुवाऊं बंधदे जीवो ॥ 806 ॥ - वही
- (13) अणुवदमहव्वदेहिं य वालतवाकामणिज्जराए य ॥
देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो ॥ 807 ॥ - वही
- (14) मण वयण कायवक्को माइल्लो गारवेहिं पडिबद्धो ।
असुहं बंधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं ॥ 808 ॥ - वही

मंगल कलश,
394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड,
अलीगढ़ 202001

णत्थि य रायद्दोसा

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स॥515॥

चागी भद्दो चोक्खो उज्जुवक्कम्मो य खमदि बहुगंपि।
साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स॥516॥

ण य कुणइ पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा गेहोवि य सुक्कलेस्सस्स॥517॥

गोम्मटसार (जीव.)

- कार्य-अकार्य को तथा सेवनीय-असेवनीय को जानता हो, सबको समानरूप से देखता हो, दया और दान में प्रीति रखता हो, मन-वचन-काय से कोमल हो - ये तेजोलेश्या के लक्षण हैं। 515।
- त्यागी हो, भद्र परिणामी हो, सरल स्वभावी हो, शुभ कार्य में उद्यमी हो, कष्ट और अनिष्ट उपद्रवों को सह सकता हो, मुनिजन और गुरुजन की पूजा में प्रीति रखता हो - ये पद्म लेश्यावाले के लक्षण हैं। 516।
- न पक्षपात करता हो, न निदान करता हो, सबमें समान भाव रखता हो, इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष न करता हो, पुत्र-मित्र-स्त्री में रागी न हो - ये सब शुक्ल लेश्यावाले के लक्षण हैं। 517।

सं. - डॉ. आ. ने. उपाध्याय,
पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

सिद्धान्तचक्रवर्ती के 'गोम्पटसार' का कर्मकाण्ड : कर्मसिद्धान्त का प्रामाणिक सन्दर्भ

— विद्यावाचस्पति डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव



आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती युगप्रवर्तक जैन चिन्तकों में ऐतिहासिक क्रोशशिला के संस्थापक प्रमाणपुरुष के रूप में ततोऽधिक प्रख्यात हैं। इसीलिए, इन्हें आर्हत चिन्तन की महनीय परम्परा के विस्तारक आधुनिक जैन चिन्तक पुण्यश्लोक आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'सारस्वताचार्य' शब्द से विशेषित किया है। (द्र.: 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', भाग 2)

शास्त्रीय रचना-जगत् में टीकाओं के माध्यम से अर्थ-ग्रन्थिल विषयों को सुगम और सुबोध बनाने की परिपाटी प्राचीन काल से प्रचलित है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (विक्रम की 10-11वीं शती) इसी परिपाटी के कूटस्थ परिपोषकों में पांक्त्य हैं। विक्रम के नवम शतक में 'षट्खण्डागम' की 'धवला' (वीरसेनाचार्य) और आचार्य कुन्दकुन्द (ईसवी प्रथम शती) के 'कषायप्राभृत' की चार विभक्तियों पर 'जयधवला' (जिनसेनाचार्य द्वितीय) टीकाओं की रचना के बाद सैद्धान्तिक वैदुष्य का मापदण्ड इन्हीं दोनों टीका-ग्रन्थों को मान लिया गया और इनके अध्ययन-अनुशीलन का सार्वत्रिक प्रचार हुआ। ज्ञातव्य है, प्राचीनकाल में किसी शास्त्रीयमूल ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाएँ इतनी मौलिक और तात्त्विक होती थीं कि उन्हें एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में पण्डितों का समादर प्राप्त होता था।

कालान्तर में उक्त दोनों, 'धवला'-'जयधवला' टीकाएँ जब दुर्राह्य प्रतीत होने लगीं, तब सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यश्री ने इन टीकाओं के मूल प्रतिपाद्य के सारभाग को स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में गाथाबद्ध किया। 'धवला-सिद्धान्त का अनुशीलन करके 'गोम्मटसार' और 'जयधवला' टीका का मनन करके 'लब्धिसार' जैसे कालोत्तीर्ण ग्रन्थों की इन्होंने रचना की। इन्हें सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि विद्वज्जगत् की ओर से प्राप्त हुई थी। इस सन्दर्भ में इन्होंने 'गोम्मटसार' के 'कर्मकाण्ड' में इस प्रकार निर्देश किया है -

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।

तह मइ-चक्केणमया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥ 397 ॥

अर्थात् जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा अपने चक्ररत्न से भारतवर्ष के छहखण्डों को बिना किसी विघ्न-बाधा के स्वायत्त करता है, उसी प्रकार मैं (नेमिचन्द्र) ने अपने बुद्धिचक्र से छह खण्डों, यानी षट्खण्डागम-सिद्धान्त को सम्यक् रीति से अपने अधीन किया है।

जैन साहित्येतिहास में 'गोम्मटसार' की जो आविर्भाव कथा अंकित है वह बड़ी रोचक है। गंगवंशी राजा राचमल्ल के प्रधानमन्त्री और सेनापति चामुण्डराय ने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का शिष्यत्व स्वीकार किया था। अपने अप्रतिहत युद्धकौशल से उसने 'वीरमार्त्तण्ड' की उपाधि आयत्त की थी। उसने मैसूर-राज्य के श्रमणबेलगोला में अवस्थित विन्ध्यपर्वत पर आदिनाथ ऋषभदेव के कनिष्ठ पुत्र तथा चक्रवर्ती भरत के अनुज बाहुबली स्वामी की सत्तावन फुट ऊँची अतिशय भव्य शिला-प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई थी

इधर उत्तर भारत में अयोध्यानरेश चक्रवर्ती भरत ने अपने तपोदीप्त अनुज बाहुबली स्वामी की एक प्रतिमा स्थापित कराई थी। वह प्रतिमा कुक्कुटजाति के भयंकर जहरीले नागों से व्याप्त होने के कारण 'कुक्कुटजिन' कहलाती थी। उत्तर भारत की इस मूर्ति से भिन्नता बतलाने के लिए चामुण्डराय द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमा 'दक्षिणकुक्कुटजिन' कहलाई। यह प्रसंग 'गोम्मटसार' के 'कर्मकाण्ड' नामक दूसरे भाग में इस प्रकार चर्चित है -

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।

गोम्मटरायविणिम्मिय-दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ ॥ 968 ॥

अर्थात् गोम्मटसार संग्रह, गोम्मटशिखर पर विराजित गोम्मटस्वामी तथा गोम्मटराय द्वारा विनिर्मित 'दक्षिणकुक्कुटजिन' की जय हो।

प्राकृत-वाङ्मय के प्रज्ञापुरुष डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के अनुसार चामुण्डराय अपने परिवार में 'गोम्मट' नाम से जाना जाता था। उसके इसी नाम के आधार पर उसके द्वारा प्रतिष्ठापित बाहुबली स्वामी की प्रतिमा की संज्ञा 'गोम्मटेश्वर' हुई।

'गोम्मटेश्वर' का अर्थ है - गोम्मट (चामुण्डराय) का ईश्वर (देवता)। कालक्रम से बाहुबली स्वामी की यथाप्रतिष्ठापित प्रतिमा अपने प्रतिष्ठाता से तदात्मता प्राप्त कर 'गोम्मट' 'गोम्मटेश' या 'गोम्मटेश्वर' नाम से लोकोच्चरित होने लगी।

ज्ञातव्य है, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने इस 'गोम्मत' उपनामधारी शिष्य चामुण्डराय के ज्ञानोन्मेष के लिए, 'षट्खण्डागम' से आकलित कर, जीवकाण्ड (कुल 734 गाथाएँ) और कर्मकाण्ड (कुल 972 गाथाएँ) नामक दो भागों में शिष्य नाम से व्याहरित 'गोम्मतसार' ग्रन्थ की रचना की। स्पष्ट है कि 'गोम्मतसार' षट्खण्डागम-परम्परा का ग्रन्थ है। इसके प्रथम भाग 'जीवकाण्ड' नामसे स्वतोव्यक्त है कि इसमें जीवों के विभिन्न आयामों का स्वरूप निरूपण किया गया है और द्वितीय भाग 'कर्मकाण्ड' में कर्म-सिद्धान्त के विभिन्न आयामों का प्रज्ञापन-प्ररूपण हुआ है, जिसमें वर्णित विषयों का पल्लवन नौ अधिकारों में हुआ है - प्रकृति-समुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्त्व सत्त्वस्थानभंग, त्रिचूलिका, स्थान-समुत्कीर्तन, प्रत्यय, भावचूलिका, त्रिकरण-चूलिका और कर्मस्थिति-रचना।

आचार्यश्री सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इस कर्मकाण्ड में कर्म-सिद्धान्त का जैसा सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध एवं पुंखानुपुंख निरूपण किया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। जैनदृष्टि में कर्म मुख्यतः दो प्रकार का है - भावकर्म और द्रव्यकर्म। वस्तुतः भावकर्म जैनेतर दर्शनों, विशेषतः बौद्धों के संस्कार तथा द्रव्यकर्म योगदर्शन की वृत्ति और न्याय दर्शन की प्रवृत्ति का समानान्तर है। अन्य दर्शनों जहाँ राग और द्वेष से आविष्ट जीव की क्रिया को कर्म कहते हैं और इस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य संस्कार को स्थायी मानते हैं वहीं जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि राग और द्वेष से आविष्ट जीव के प्रत्येक कर्म या क्रिया के साथ एक प्रकार का आणविक द्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है और उसके राग-द्वेष के परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त करता है और वही द्रव्य कालान्तर में आत्मा की शुभाशुभ-प्राप्ति में निमित्त बनता है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है।

सिद्धान्तचक्रवर्तीजी का कर्म-सिद्धान्त जैनों के परम्परागत कर्म-सिद्धान्त के ही अनुरूप है। परन्तु उसकी उपस्थापना शैली इनकी अपनी है। सैद्धान्तिक व्याख्या के क्रम में उपन्यस्त उदाहरण, निदर्शन या दृष्टान्त भी इनके अपने हैं। जैसे कर्म के स्वभाव की विवेचना करते हुए इन्होंने कहा है -

पयडी सील सहावो जीवंगाणां अणाइसंबंधो।

कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥ 2 ॥ गो. क.

अर्थात् जो कारण-निरपेक्ष होता है उसे प्रकृति या शील या स्वभाव कहते हैं। राग-द्वेष आदि रूप में परिणत आत्मा का स्वभाव है और राग-द्वेष उत्पन्न करना कर्म का स्वभाव है। जैसे, सोना और उसमें निहित मैल का सम्बन्ध आदि है, वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। और फिर, जीव तथा कर्म का अस्तित्व भी तो स्वतः सिद्ध है; क्योंकि 'मैं' प्रत्यय से यदि आत्मा या जीव के अस्तित्व की सिद्धि होती है, तो किसी के दरिद्र और किसी के धनी होने से कर्म का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

सिद्धान्तचक्रवर्तीजी ने शौरसेनी प्राकृत की प्रकृति और प्रवृत्ति की विविधता और विचित्रता के साथ 'गोम्मतसार' की गाथाओं की रचना की है। शौरसेनी-निबद्ध इन गाथाओं की रचना-

प्रक्रियागत उल्लेखनीय विशेषता है - समास-शैली में अर्थगर्भ बातों की विस्मयकारी अवतारणा। इस सन्दर्भ में आठ प्रकार के कर्मों के नोकर्म-द्रव्यकर्म की विवेचना में रचित उपमा-दृष्टान्त मूलक निम्नांकित गाथा द्रष्टव्य है -

पडपडिहारसिमज्जा आहारं देह उच्चणीचंगं।

भंडारी मूलाणं णोकम्मं दवियकम्मं तु॥69॥ गो. क.

अर्थात् ज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म घना कनात का परदा है; क्योंकि वह वस्तु को विशेष रूप से ग्रहण करने में बाधक होता है। दर्शनावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म द्वार पर नियुक्त द्वारपाल है; क्योंकि वह वस्तु को सामान्य रूप से भी देखने में बाधक है। वेदनीय का नोकर्म-द्रव्यकर्म मधु से लिप्त तलवार की धार है, क्योंकि उसको चाटने से पहले तो मधु के मधुर आस्वाद का सुख मिलता है और फिर जीभ कट जाने से वेदना भी होती है। मोहनीय का नोकर्म-द्रव्यकर्म मद्य के समान है; क्योंकि मद्यजनित मदान्धता के कारण जीव को सम्यग्दर्शन में बाधा पहुँचती है। आयु का नोकर्म-द्रव्यकर्म चार प्रकार का आहार है; क्योंकि इस आहार के शरीर के बलाधान में कारण होने से यह उसकी स्थिति का निमित्त होता है। नाम का नोकर्म-द्रव्यकर्म औदारिक आदि शरीर है; क्योंकि यह योग का उत्पादक होने से औदारिक आदि शरीर को उत्पन्न करता है। गोत्र का नोकर्म-द्रव्यकर्म उच्च-नीच शरीर है; क्योंकि वह उच्च और नीच कुल को व्यक्त करता है। अन्तराय का नोकर्म-द्रव्यकर्म कृपण भण्डारी है; क्योंकि वह भोगोपभोग आदि की वस्तुओं में विघ्न डालता है।

गूढ विषय को समझाने के क्रम में दृष्टान्तों या उपमाओं का आश्रय लेना प्राचीन व्याख्याकारों की सुपरिचित पद्धति रही है। कहना न होगा कि सिद्धान्तचक्रवर्तीजी ने भी विषय-विवेचना के क्रम में इसी पद्धति को मूल्य दिया है उदाहरणार्थ, निम्नांकित गाथा द्रष्टव्य है -

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।

पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं॥3॥

यहाँ सिद्धान्तचक्रवर्तीजी ने कर्म को ग्रहण करने का मूल आधार शरीर को माना है। इनका आशय है कि जैसे तप्त लौहपिण्ड अपने चारों ओर के प्रदेशों के जल को या जलीय आर्द्रता को खींच लेता है, वैसे ही शरीर नामकर्म के उदय के साथ ही जीव अपने अंगों या सभी आत्मप्रदेशों से कर्म-नोकर्म को ग्रहण करता है। तात्त्विकता समझाने के लिए आचार्यश्री द्वारा उपमा अलंकार का उपयोग ततोऽधिक सार्थक हुआ है। इससे विषयगत गूढता अतिशय सुगम हो गई है।

इसी प्रकार आयुकर्म की बन्ध शक्ति को समझाने के क्रम में विषयगत अर्थ-जाटिल्य को सरल बनाने के निमित्त आचार्यश्री द्वारा लिये गये उपमा अलंकार के आश्रय का एक और निदर्शन निम्नांकित गाथा में द्रष्टव्य है -

कम्मकयमोहवड्ढिय संसारम्मि य अणादिजुत्तम्मि।

जीवस्स अवट्टाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं॥11॥ गो.क.

अर्थात् आयुर्कर्म का उदय, कर्म-कृत अज्ञान, असंयम तथा मिथ्यात्व के द्वारा वृद्धि को प्राप्त अनादि संसार की चार गतियों (वनस्पति, तिर्यच, मनुष्य और देव) में जीव को उसी प्रकार रोके रहता है, जिस प्रकार काठ अपने छिद्र में पैर डालनेवाले व्यक्ति को रोके रहता है। यहाँ 'काठ' (हाल) उपमान और आयु कर्म का उदय उपमेय की अपूर्वता ततोऽधिक आवर्जक बन पड़ी है।

विवेचना की इससे सरल पद्धति और क्या हो सकती है? अवश्य ही, आचार्यश्री अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के उतने पक्षपाती नहीं थे, जितने वे कर्म-सिद्धान्त की गहनता को आसानी से जनबोध्य बनाने के आग्रही थे। वस्तुतः, इस गाथा में निहित अर्थगूढता के व्यक्तीकरण के लिए लौकिक तत्व से दीप्त उपमा के विनियोग में बिम्बात्मक अभिरामता दर्शनीय है।

सरल परिभाषा के माध्यम से वस्तु-स्वरूप को सहजता से बोधगम्य कराने की पद्धति भी आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की अपनी है। इनकी यह पद्धति निम्नांकित गाथा में द्रष्टव्य है -

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।

पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्त भावकम्मं तु॥६॥गो.क.

भावकर्म और द्रव्यकर्म को परिभाषित करते हुए आचार्यश्री ने उक्त गाथा में कहा है कि सामान्यतः कर्म, कर्म-स्वरूप की दृष्टि से एक है, पर वह द्रव्य और भाव की दृष्टि से दो प्रकार का है। इनमें द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्ड है और उस पिण्ड में रहनेवाली फल देने की शक्ति भावकर्म है। अथवा, कार्य में कारण के उपचार से उक्त शक्ति द्वारा उत्पन्न अज्ञान आदि भी भावकर्म हैं।

आचार्यश्री की गाथाएँ कहीं-कहीं चित्रबन्धात्मक जैसी भी हैं जिसका निदर्शन शब्दालंकार-परम्परा में बहुधा उपलभ्य है। प्राचीन जैनाचार्यों की काव्य रचना-शैली की यह विशेषता प्राकृत और संस्कृत वाङ्मय में सार्वत्रिक रूप से प्राप्त होती है। आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत शब्द के प्रायोगिक चमत्कार के दर्शन निम्नांकित गाथा में सुलभ हैं -

बासूप बासूअ वरदिट्ठीओ सूबाअ सूबापजहण्णकालो।

बीबीवरो बीबिजहण्णकालो सेसाणमेवं वयणीयमेदं॥१४८॥गो.क.

इस गाथा में आचार्यश्री ने एकेन्द्रिय आदि जीवों के स्थितिभेदों में बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से चौदह जीव-समासों में उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति-बन्ध का विभाग दरसाया है। प्रस्तुत विलक्षण गाथा में संक्षिप्ताक्षरों द्वारा संकेतित पूर्ण शब्द इस प्रकार हैं -

बा-बादर; सू-सूक्ष्म; प-पर्याप्तक;

अ-अपर्याप्तक; बी-द्वीन्द्रिय; बि-द्वीन्द्रिय।

कहना न होगा कि सिद्धान्तचक्रवर्तीजी अर्थ-चमत्कार के विचक्षण विनियोक्ता तो थे ही, महान् शब्दशास्त्री भी थे। प्राकृत भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ जैन दार्शनिकों में इनकी द्वितीयता

नहीं है। कर्म-सिद्धान्त जैसे अध्यात्म-सिद्धान्त का विपुल वर्णन और विवेचन के कारण आचार्यश्री अपनी सिद्धान्तचक्रवर्ती, उपाधि को अक्षरशः अन्वर्थ करते हैं तथा 'सारस्वताचार्य' की गरिमा का भी अधिकारपूर्वक संवहन करते हैं।

सिद्धान्तचक्रवर्तीजी ने 'गोम्मटसार' के कर्मकाण्ड में मूल और उत्तर प्रकृतियों के नोकर्म-द्रव्यकर्म का सोदाहरण विवेचन विशद रूप में विस्तार के साथ किया है, जो कर्म-सिद्धान्त की मीमांसा का एक प्रामाणिक सन्दर्भ बन गया है। इनका यह विवेचन न केवल धार्मिक या दार्शनिक महत्त्व रखता है, अपितु इसका वैज्ञानिक मूल्य भी है। यह बताना नहीं होगा कि जैनदर्शन एक वैज्ञानिक दर्शन है और इस दर्शन को यह वैज्ञानिक दृष्टि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जैसे शलाकापुरुषोपम मनीषियों की सूक्ष्मेक्षिकापूर्ण आन्वीक्षिकी से प्राप्त हुई है।

'गोम्मटसार' का कर्मकाण्ड कर्म-सिद्धान्त का पार्यन्तिक ग्रन्थ है, जिसमें इसके पूर्ववर्ती कर्म-सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों का सार एकत्र सुलभ होता है। इसका एक-एक अधिकार पाठक और श्रोता को निर्वाण का सुख देता है। 'सत्त्वस्थानभंग' के बारे में तो स्पष्ट ही उक्त प्रकार की उद्घोषणा आचार्यश्री ने की है -

एवं सत्तद्गुणं सवित्थरं वणिणयं मए सम्मं।

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ णिव्वुदिं सोक्खं ॥ 395 ॥ गो.क.

पी. एन. सिन्हा कॉलोनी
भिखना पहाड़ी
पटना - 800006

गणितीय जिनागम गंगा के भागीरथ : आचार्य शिरोमणि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

— प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन
एवं
प्रोफेसर डॉ. पद्मावतम्मा



1. भूमिका

आइन्स्टाइन ने एक व्याख्यान में कहा - “सभी अन्य विज्ञानों से ऊपर गणित को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त होने का एक कारण यह है कि उसकी प्रतिज्ञप्तियाँ प्रकेवल रूप से निश्चित एवं विवादरहित होती हैं वहीं अन्य विज्ञानों की कुछ सीमा तक विवादास्पद होती हैं तथा नये आविष्कृत तथ्यों द्वारा निरस्त किये जाने के सतत संकट में होती हैं। गणित के उच्च सम्मान का दूसरा कारण यह है कि गणित के द्वारा शुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों में किसी सीमा तक जो निश्चितता प्रविष्ट हुई पाई जाती है वह गणित के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती थी।”¹ अणु-शक्ति उद्घाटित करनेवाले गणितीय सूत्रों के प्रणेता आइन्स्टाइन के उपरोक्त सबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाणों से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट है। जिनागम में गणित की प्रतिष्ठा कराने का सर्वाधिक श्रेय आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को जाना चाहिये। उन्होंने आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए जैनधर्म के सारभूत पूर्वों के कर्म-सिद्धान्त विषयक जटिलतम ज्ञानांश को गणितीय सूत्रबद्ध रचनाओं में पिरो दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि उनके समक्ष उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के न केवल मौलिक ग्रन्थ वरन् उन पर रची गई विशाल टीकाएँ भी उपस्थित रही होंगी जिनके आधार पर वे अनन्त धर्मप्रीति के साथ उद्धोषित कर सके -

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं।¹

यह सुविदित है कि आचार्य भद्रबाहु (ई.पू. चतुर्थ सदी) एवं उनके दीक्षित शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रभाचन्द्राचार्य) ने मिलकर बारह वर्ष के समाधिकाल में एकान्त साधनारत हो दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पर निवास करते हुए अपने पूर्वो का कर्म-सिद्धान्त विषयक गणितमय विज्ञान दक्षिण भारत की आचार्य-परम्परा को ब्राह्मी एवं सुन्दरी लिपियों में (विस्मृति से बचाने हेतु) सौंपा होगा। भारत में अशोक की ब्राह्मी लिपि से पूर्व कोई लिपि उपलब्ध न होने से विलक्षण प्रतिभासम्पन्न चन्द्रगुप्त, जो यूनान एवं यूनानी लिपि-जानकारों के प्रगाढ़ संबंध में थे, गणित को सुन्दरी लिपि और भाषा को ब्राह्मी लिपि से सम्पन्न कर भारत में अपने प्रशासन के अतिरिक्त, जैन शासन को सुदृढ़ कर गये। यही ब्राह्मी- सुन्दरी लिपियों अथवा घनाक्षरी-हीनाक्षरी लिपियों में अंकित ज्ञान कुन्दकुन्दाचार्य, तुम्बुलूर, शामकुंड, यतिवृषभाचार्य, समन्तभद्राचार्य, वीरसेनाचार्या आदि की परम्परा में अंततः नेमिचन्द्राचार्य को प्राप्त हुआ, जिनके कार्य पर केशववर्णी की कर्णाटक वृत्ति, मुनि नेमिचन्द्र की संस्कृत टीका एवं पंडित टोडरमल की विशाल गणितीय संदृष्टिमयी टीकाएँ अवतरित होती चली आईं।² ईस्वी सदी के कुछ पूर्व एवं पश्चात् आचार्य गुणधर एवं आचार्य धरसेन के शिष्यों; पुष्पदंत एवं भूतबलि द्वारा क्रमशः ज्ञानप्रवाद पूर्व एवं अग्रायणी पूर्व के कुछ अंशमात्र को लेकर जटिलतम कर्म सिद्धान्त की रचनाएँ 'कसाय पाहुड सुत्त' एवं 'छक्खंडागम सूत्र' रूपों में हुईं। गणितमय ग्रन्थ संदृष्टि बिना निरुपयोगी होते हैं अतः 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' के अनुसार यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-हड़प्पा की लिपि विस्मृत हो जाने के उपरान्त भारत में श्रुत एवं स्मृति-व्यवस्था चली आई, लौकिक एवं पारलौकिक व्यवहार क्रिया-कांडों में, अतः गणितमय कर्म-सिद्धान्त के इन ग्रन्थों तथा नेमिचन्द्राचार्य द्वारा रचित गोम्मटसारादि ग्रन्थों की टीकाओं में अर्थ संदृष्टि, अंक संदृष्टि एवं आकार रूप संदृष्टियों की परम्परा दीक्षित मौर्य चन्द्रगुप्त को ही इन लिपियों के आविष्कार का श्रेय देती प्रतीत हुई हैं।³

इस प्रकार नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा सूत्रबद्ध की गई रचनाएँ जो क्रमशः गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार एवं त्रिलोकसार नाम से सुविख्यात हैं अपने आप में परिपूर्ण, क्रमबद्ध, सरलता से ग्राह्य, संस्थोपयोगी एवं ऐतिहासिक रूप ले सकीं। उनमें परम्परागत ज्ञान गणितीय सामग्री भरपूर आ गई जो सभी मतों से विलक्षण सिद्ध हुई।⁴ जहाँ तक न्यायगत पक्ष थे वे तो तुलना की वस्तु बन गये और भारतीय न्याय के अनेक मतों से सीधी टक्कर में आ गये किन्तु नेमिचन्द्राचार्य द्वारा चुनी एवं रची गई सामग्री सीधी गणितीय थी, विश्वरचना सम्बन्धी तथा सूक्ष्मतम जगत् के रहस्यों से भरी वैज्ञानिक नियंत्रण प्रणाली रूप विलक्षण थी, अतः वह अपने आप में भारतीय अन्य मतों से अथवा विश्व के अन्य मतों से विलग विशालरूप में पनपती, चुनौती रूप में उतर आयी।

2. त्रिलोकसार - आधुनिक प्रसंग में

त्रिलोकसार का विषय जानने से पूर्व आधुनिक खगोल विद्या की जानकारी आवश्यक है। खगोल शब्द कुछ ऐसे तथ्यों का द्योतक है जिनका सम्बन्ध अन्तरिक्ष की गहराइयों और विश्व-संरचना की इकाइयों से है। कोई भी वस्तु कहाँ स्थित है, कब से स्थित है, किस दशा में है, उसकी विगत दशा क्या थी, अनागत दशा क्या होगी और दशा-परिवर्तन का कारण क्या है - ये प्रश्न हर युग के विचारकों को सर्वप्रिय होते हैं और उनकी खोज-पिपासा कभी नहीं मिटती है। इन प्रश्नों को लेकर सबसे बड़ी क्रांति यूनान, भारत तथा चीन आदि प्राचीन सभ्यताओं के केन्द्रों पर दृष्टिगत होती है। इन केन्द्रों पर एक विचित्र उत्सुकता जागी कि विश्व की घटनाओं का सम्पादन कैसे होता है? क्या कोई कार्य या घटना अथवा क्रिया के पीछे दैवी, आधिदैविक शक्तियाँ होती हैं, जिन पर नियंत्रण करने के लिए उन्हें प्रसन्न करना होता है? अथवा कोई देवादि के अप्रसन्न होने पर अनिष्टकारी घटनाएं होती हैं, जिन पर मानव का कोई नियंत्रण नहीं होता है?

त्रिलोकसारादि द्वारा जैनधर्म में इस नियंत्रण-योग्यता का अध्ययन बड़ी गहराई से हुआ। सभी घटनाओं को जो पुद्गल (matter) से सम्बन्धित थी; उन्हें कारणता नियम (law of causation) के अन्तर्गत बांधा गया। पुद्गल और जीव के बीच भी यह नियम कर्म के अधीन एवं कुछ और भी स्वतंत्र भावों के अधीन बांधा गया। यह विश्व में अनेक केन्द्रों पर प्राप्य कारणता का नियम तभी सार्थक होता है जब विगत, वर्तमान और अनागत की तारतम्य घटनाओं के बीच के सम्बन्ध राशि रूपों में, परिमाण पुंज रूपों में तथा जटिल गणितीय कलन रूपों में ठीक-ठीक व्यवस्थित किया जाता है। यही सफलता का आधार रहा है।

जहाँ प्राचीन काल में अध्यात्म शक्ति द्वारा इंद्रियों और मन से परे, संवेदनाओं से परे ज्ञान का स्वरूप महर्षियों ने पा लिया था वहाँ आज का विज्ञान सूक्ष्म वीक्षण यंत्र, दूरवीक्षण यंत्र, राडार, लेसर, मेसर प्रक्षेपयंत्र, उपग्रह जो अणुशक्ति से संचालित होकर गाइजर काउन्टर या कम्प्यूटर्स आदि गणक यंत्रों द्वारा विभिन्न अध्ययन से प्राप्त विशाल सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। शोध के अभिलेख-संदेश कुछ ही क्षणों या सेकण्ड के करोड़वें भाग में विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाये जा रहे हैं। आज की इस वैज्ञानिक चरम उन्नति का प्रारम्भ भगवान पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान महावीर काल की क्रांति से होता है जब यूनान में थेलीज (ई.पू. 600) ने "Know thy self" के साथ ग्रहण काल बतलाना प्रारम्भ किया, देवताओं की शक्ति के मर्तों को चुनौती दी। पिथेगोरस (ई.पू. 540) ने विश्व में जीवों की संख्या नियत बतलाकर चतुर्चक्रमण (tetraactys) से छूटने हेतु मांस-भक्षण निषेधकर अहिंसा की प्रतिष्ठा में हरे पौधों को भोजन की वस्तु से मुक्त किया। जैनागम के अनुसार हर वस्तु और घटना को संख्या-प्रमाणादि से सम्बन्धित किया, रेखागणित को स्वयंसिद्ध आदि से बांधकर संगीत में गणित का प्रवेश किया। सुकरात (ई.पू. 415) ने तर्क को आगमन विधि से पुष्ट किया तथा जीनो (ई.पू. 450) ने अनन्त एवं अनन्तांश विषयक विरोधाभासों को समय और आकाश की संरचनाओं में प्रस्तुत कर घटनाओं द्वारा गति का विश्लेषण किया। जहाँ देमोक्रीतस (ई.पू. 410) ने परमाणुवाद को स्थापित किया, चीन में भी परमाणुवाद केवल भौतिकता तक ही सीमित रहा वहाँ जिनागम कर्म-परमाणुओं के गणित

की चरम सीमाओं तक पहुँचा। अरस्तू (ई.पू. 384) ने तर्क वाक्यों का सिद्धान्त बनाया और गणित-विज्ञान की नींव प्लेटान (ई.पू. 427) ने डाली। यूडो (ई.पू. 370) ने पृथ्वी की गोलाई छाया-माप के आधार पर डाली, वहीं जिनागम में भी छाया-मापादि के आधार पर योजन, ग्रहादिगमन गति, युग पद्धति, गगनखंडादि गणनाएँ आई तथा चीन में भी 'ली' के आधार पर यिनयेंगादि सिद्धान्त आगे बढ़े। टालेमी (ई.पू. दूसरी सदी) ने ग्रहों के गमन को वृत्त गुच्छों (epicycle) द्वारा समझाया और डायोफेन्ट्स (275 ए.डी.) ने यांत्रिकी तथा उदस्थैतिकी नींव डाली वहीं तिलोयपण्णती आदि ग्रन्थों में पातालादि के सिद्धान्तों द्वारा समुद्र के ज्वार-भाटादि का कारण बतलाया गया। वहीं चीन में लगभग इसी समय समुद्री प्राणियों का फूलना और संकुचन बतलाया गया। इस प्रकार लगातार विज्ञान तथा मनोविज्ञान दैवी-दायरों को तोड़कर यंत्र विज्ञान द्वारा सभी को कारणताओं पर ढालता चला गया। चीन में कन्फ्यूशस, लाओत्से आदि भी दार्शनिक पक्षों को वैज्ञानिक रूप देते चले आये। आकाशीयपिंडों का गहन अध्ययन हुआ, नये सिद्धान्त बने तथा पंचांगों में जैन पंचांगों की भाँति सुधार हुए।

न्यूटन (1642 ई.) ने विज्ञान-जगत् में अभूतपूर्व कार्य कर गति-संबंधी नियमों को गुरुत्वाकर्षणादि आधार दिया, खगोलीय पिंडों के बीच दूरियाँ निकालीं किन्तु अनेक विद्युच्चुम्बकीय घटनाओं को न समझाया जा सका। भौतिक कारणता के दूसरे पक्ष में मैक्सवेल, लारेन्ज, आइन्स्टाइन, प्लांक आदि द्वारा स्थूलतम एवं सूक्ष्मतम संरचनाओं में आविष्कृत कर प्रयुक्त किये गये। इस प्रकार आज के वैज्ञानिकों ने भौतिक घटनाओं को गुरुत्वाकर्षण, विद्युच्चुम्बकीय एवं नाभिकीय शक्तियों के रहस्यों को उद्घाटित कर उनमें एकसूत्रीय सिद्धान्त में पिरोने का अद्भुत प्रयास किया किन्तु आंशिक सफलता को प्राप्त कर सके। जीवशास्त्र में भी डी.एन.ए.-आर.एन.ए. आदि जीवोत्पत्ति साधन सिद्धान्त आगे बढ़े, किन्तु भौतिक शक्तियों के साथ एकसूत्री सिद्धान्त में न पिरोये जा सके हैं। वहीं जिनागम के कर्म सिद्धान्त (करण अनुयोग सिद्धान्त पर त्रिलोकसारादि ग्रन्थों में वर्णित हो) एकसूत्री सिद्धान्त की रचना को उद्घोषित कर प्रयोगों की चुनौती प्रस्तुत कर रहे हैं।^१

लोक (विश्व) कितना विशाल है -किसी नीहारिका का प्रकाश (1 सेकंड में 18600 मील प्रति सेकण्ड की गति से) हमारे पास पहुँचने में 5 करोड़ वर्ष तक लग जाते हैं और वैज्ञानिकों को संदेह है कि क्या वे हमसे लगभग 4500 मील प्रति सेकण्ड की गति से दूर होती जा रही हैं? यद्यपि आइन्स्टाइन ने प्रकाश के वेग को लोक में महत्तम ही माना है। किन्तु टेक्ख्यान कणों की कल्पना इनसे भी तेज मानी गई है, किन्तु जिनागम में भी लोक परिमिति में माना गया है। अतः किसी भी कणादि को महत्तम गति से अधिक का निषेध है, इसी प्रकार लघुतम गति से भी लघुतर का निषेध है क्यों? परमाणु, प्रदेश तथा समय, सभी सीमित हैं। नियंत्रण योग्यता विज्ञान से अमेरिका अपोलोयान 1969 में चन्द्रतल तक मानवों को ले गया, जिसमें 2,50,000 लाख डालर तथा अन्य मद में 30,000 लाख डालर खर्च हुआ था। ज्ञात हुआ कि चन्द्रतल की चट्टाने 370 करोड़ वर्ष पुरानी हैं और वह पृथ्वी का अंश नहीं है। अन्तरिक्ष की गहराइयों काली राजी की भाँति एंटी मेटर, ब्लेक होल आदि भी हैं। यह सभी ज्ञान प्राप्त करने शोधकार्य जहाँ लाखों

प्राणियों के आहार को छीन रहे हैं वहीं अध्यात्म शक्ति द्वारा उनका गहन परिचय प्राप्त किया जा सका था। सचमुच ही वैज्ञानिकों जड़ और चेतन की एनट्रापी में अन्तर पाया है।⁷

अध्यात्म शक्ति से अर्जित ज्ञान को त्रिलोकसार में समाविष्ट किया गया है। इस हेतु अनन्तान्त आकाश के मध्य सीमित लोक स्थापित कर उसमें अन्य विभिन्न द्रव्यों को वैज्ञानिक रूप देकर समाविष्ट किया गया है। खगोल सम्बन्धी दूरियाँ राजूओं में परमाणु संबंधी दूरियाँ सूच्यंगुलादि के प्रदेशों द्वारा मापी गयी हैं। एक प्राण का मान $4446^{2458}/_{3773}$ आवलिका प्राप्त किया गया है जो 2880/3773 सेकण्ड के लगभग है। एक आवलि में जघन्ययुक्त अंख्यात समय होते हैं, जिसकी संख्या की गणना की जा सकती है। उसी पर आधारित पल्यकाल के समयों की संख्या है, जिसका सम्बन्ध सूच्यंगुल के प्रदेश संख्या माप से निम्नलिखित है -

सूच्यंगुल प्रदेशसंख्या = पल्य के समयों की राशि में उसी राशि का उतने बार गुणन जितनी पल्य की अर्द्धच्छेद राशि होती है।

हो सकता है कि मंदतम गति की अवधारणा ध्रुवीकरण जैसी घटनाओं पर प्रकाश दे सकें। खगोल विषयक ज्ञान में जीव, पुद्गल, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य एवं आकाश द्रव्य की सत्ता न्यायसंगत है और जीव, पुद्गल, काल तथा आकाश राशियाँ क्रमशः अनन्तगुणी रूप में 16, 16ख, 16 ख ख, 16 ख ख ख समय एवं प्रदेश रूप में न्यायसंगत सिद्ध की गई हैं। अवगाहन शक्ति के आधार पर पुद्गलादि की संरचनादि को तथा कर्म परमाणुमय संरचना को न्यायसंगत बनाया है।

इसी प्रकार अनेक प्रकार की राशियों का अल्पबहुत्व चौदह धाराओं के द्वारा स्थान एवं पद के स्थलविज्ञान (topology) द्वारा दर्शाया गया है। यह आधुनिक ज्यामिति का सबसे बड़ा आविष्कार है। जीव के भावों और कर्म परमाणुओं के समीकरण बनाने हेतु पुद्गल द्रव्यों में संख्येय, असंख्येय और औपचारिक अनन्त प्रदेशों के प्रचय होते हैं। भावों और संवादी कर्म परमाणुओं, काल और आकाश के खंडों में समय संख्या अथवा प्रदेश संख्यादि का अल्पबहुत्व दर्शाने ये धाराएँ बनाई गई हैं। एक समय में एक प्रदेश और उसी अविभागी समय में 14 राजू का अतिक्रमण मंदतम एवं तीव्रतम गति का द्योतक है।

त्रिलोकसार में लोक की सीमाएँ, उसके ज्यामितीय खण्ड, चारों ओर से वेष्टित पदार्थ, भौगोलिक, ज्योतिष आदि के विवरण भी गणित द्वारा दिये गये हैं। ऋतु, राहू, कर्क, मकर राशियाँ, मध्यप्रदेश, धाराएँ, शलाका गणन के सभी सिद्धान्त (logarithms) आदि नवीन विवरण हैं। लोक का आकार 'पुरुष', जो सर्व प्राणियों में सर्वाधिक विकसित अवस्था है - कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष को चारों ओर घुमा देने पर शंकु -समच्छिन्नकों से रचित लोक दृष्टिगत होता है जो 343 घन राजू नहीं होता है। वीरसेनाचार्य ने गणितीय गणनाद्वारा उसका घनफल 343 घन राजू निश्चित करने हेतु उसे स्फान सदृश आकारवाला लोक निर्धारित किया। इसी लोक में ज्योतिर्लोक तथा भौगोलिक लोक को स्थापित करने में तीन प्रकार के अंगुलों का प्रयोग किया गया - आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल, जहाँ छायामाप और ग्रह-गमनादि रेखीय एवं कोणीय माप लगते थे और यथाविधि इतने ही प्रकार के योजन-प्रयुक्त किये गये।⁸

राजू क्या है? उसकी गणना असंख्यात द्वीप समुद्रों में स्थित ज्योतिष बिम्बों की संख्या पर भी आधारित है और ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक की सीमाओं से भी सम्बन्धित है। इस प्रकार लोक या अन्तरिक्ष की गहराइयाँ केवल दृष्ट आकाशीय पिण्डों पर आधारित नहीं हैं। उस अन्तिम दूरी से भी 7 राजू ऊपर तथा 7 राजू नीचे की ओर यह लोक (universe) विस्तृत है। ऊपर स्वर्ग, नीचे नरक, मध्य में तिर्यक्लोक ऐसे प्रमाणों को लिये है जो जीवों सम्बन्धी, स्वर्ग-नरक की रचना तथा मध्यलोक संबंधी रचना लेकर मानो करतल आमलकवत् है (त्रिलोकसार 110)।

स्वर्ग भौतिक सुख की सांत सीमाएँ, नर्क नारकीय दुःख की सांत सीमाएँ तथा सिद्धलोक सिद्ध भगवानों की अनन्त सीमाएँ आत्मिक सुख को लेकर है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के लोकों का दिग्दर्शन त्रिलोकसार द्वारा हुआ (144-207, 451-560)। इन लोकों में ज्योतिर्लोक भी था जिसकी गणनाएँ रहस्य से भरी थी। चीन, बेल्जियन आदि देशों में भी कुछ इन्हीं प्रकारों की पद्धति प्रचलित थी। पथ को द्विगुणित कर उसे वृत्तों अर्थात् अक्षांशों और देशांशों में गगनखण्डादि रूप में तथा योजनों में निरूपित कर 1000 वर्षों तक पंचवर्षीय युगवाला पंचांग जारी रहा। इसमें वेदांगज्योतिष के ज्ञान के अतिरिक्त अयनादि युक्त नये-नये गणन प्रविष्ट किये गये। चन्द्र और सूर्य के गमन संबंधी पंचांग स्थूलरूप से, औसतरूप से सही थे किन्तु ग्रह-गमन सम्बन्धी सामग्री यतिवृषभ (पाँचवीं सदी) काल में ही विनष्ट हो चुकी थी। इन जैन धर्मग्रन्थों में, यूनानियों एवं अन्य भारतीय या जैन ज्योतिषियों की ज्योतिष-पद्धति प्रवेश नहीं कर सकी। धर्म में सर्वज्ञता या केवलज्ञान का अचल विश्वास जैनाचार्यों को पूर्व में स्वीकृत पद्धति से विचलित न कर सका। यह एकसूत्री पद्धति पर आधारित ज्ञान था जो सर्वथा मौलिक था। इसमें बीज डाले जा सकते थे तथा ग्रहगमन की वही युगपद्धति द्वारा समाविष्ट हो सकती थी, किन्तु मात्र चंद्र तिथियों पर ही अवलम्बित धार्मिक उत्सव आदि पर मुख्यतः जोर होने के कारण फलित ज्योतिष उन्हें आकर्षित बाद के काल में न कर सका होगा अतः दृक् ज्योतिष से दूर होते ही यह ज्ञान सीमित रह गया।

चित्रा पृथ्वी क्या है? मेरु पर्वत क्या है? चित्रा पृथ्वी से ऊँचाई का क्या तात्पर्य है? शोधकर्ताओं ने यह पाया कि मेरु पर्वत एक खगोलीय अक्ष के रूप में निर्देशकों का चित्रण करता रहा होगा, जहाँ भी इसकी स्थिति रही हो, वह बीचों-बीच ही स्थित होगी और कहीं उत्तर दिशा की ओर इसका प्रेक्ष्य रहा होगा। चित्रा समतल को भूमध्य रेखीय समतल माना जाता रहा हो जिससे ज्योतिर्बिम्बों की ऊँचाइयाँ योजन के कोणीय माप देती रही हों। शेष विवरण पंचांग में अन्तर्भूत है। चंद्र और सूर्य आदि के वाहक देव उस प्राचीन काल की याद दिलाते हैं जब दैविक और आधिदैविक शक्तियों की मान्यता थी। उनमें वैज्ञानिक तथ्यों का प्रवेश नहीं हुआ था। क्या जैनमत में इन अगणनीय शक्तियोंकी मान्यता थी और वह भी किस सीमा तक? यह विचारणीय है। जैन मान्यता में एक द्रव्य की पर्यायों का दूसरे द्रव्य की पर्यायों पर नैमित्तिक प्रभाव माना गया है, जो उपादान द्रव्य की योग्यता पर निर्भर करता है। द्रव्य की द्रव्यता पर त्रिकाल में कोई प्रभाव नहीं होता है - जीव जीव ही रहेगा, कालद्रव्य काल ही, आकाश आकाश ही और पुद्गल पुद्गल ही रहेगा। उनके विशेषगुण भी वहीं रहेंगे। बात केवल पर्याय तक अटकती है, जो

समयवर्ती होती है। अस्तु, सांसारिक या दैविक, नारकीय घटनाएँ चेतन या अचेतन में निज-निज कर्मानुसार या योग्यतानुसार घटित होती हैं। मात्र जीव में एक ऐसा पारिणामिक भाव जीवत्व, भव्यत्व या अभव्यत्व रूप होता है, जहाँ विशुद्धि की प्रधानता रहस्यमय प्रभाव देती दृष्टिगत होती है। राहु कोई देव नहीं अपितु विमान का नाम है। वे भी दिन राहु, पर्व राहु, ऋतु राहु रूप में चन्द्रकलाच्छादन, ग्रहण, संवत्सरादि के कलन में उपयुक्त होते हैं।

असंख्यात द्वीप समुद्र क्या है, उनके दिग्दर्शन का अभिप्राय क्या है? एक तो लोक की सीमा और उसमें करोड़ों ज्योतिर्बिम्बों का स्थिर एवं अस्थिर व्यवस्था के अभिप्राय से इतने द्वीप समुद्रों का एक समतल में फैलाव बतलाया गया है। अढ़ाई द्वीप तक, मानुषोत्तर पर्वत के इस ओर तक विभिन्न रचनाओं से मानस-लोक है जिसके आगे मनुष्य का जाना सम्भव नहीं था। द्वीप और समुद्र ठीक वृत्ताकार किस तथ्य के द्योतक हैं? इन सभी बातों से प्रतीत होता है कि विस्तृत क्षैतिज समतल में विभाजन की योजना हुई और वृत्ताकार क्षैतिजरूप में द्वीप समुद्रों के मण्डल से रज्जू के विस्तार को भरा गया जिसके द्वारा पल्योपम, सागरोपम नामक ऐसी काल-राशियाँ उत्पन्न की गईं जिनका सम्बंध कर्म स्थितियों को उपमा मान द्वारा प्रतिबोधित किया जा सके।

इसी प्रकार जम्बूद्वीप में ज्योतिषीय एवं भौगोलिक बोध भरा गया। आनुपातिक रूप से सुस्पष्ट स्थितियाँ, रचनाएं अंकित करने हेतु जम्बूद्वीप को एक लाख योजनवाला नियत किया गया। यहाँ भौगोलिक योजन को क्या 9 मील माना जाय या कुछ और कम? लिशक और शर्मा ने 49820 अर्थात् (44820-5000) योजनों को सादृश्य के आधार पर पृथ्वी के गोल के 66° में मान्यता दी है। वहीं 510 योजनों को आत्मांगुल पद्धति में 48° की मान्यता दी है। इस प्रकार 66° चाप का मान $510/48 \times 66 = 701\frac{1}{4}$ योजन आत्मांगुल पद्धति में उत्सेधांगुल पद्धति के $1402\frac{1}{2}$ योजनों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन्हीं का मान चीनी 'ली' माप में $1402\frac{1}{2} \times 35 = 49087$ माप होता है। यह माप 49820 के विशेष निकट है। उन्होंने तदनुसार भौगोलिक योजन को पृथ्वी पर $6\frac{1}{2}$ मील के लगभग मानकर $701\frac{1}{4}$ योजन जम्बूद्वीप की त्रिज्या को पृथ्वी की त्रिज्या, जो 4000 मील के लगभग है, ला दिया है। इसी के आधार पर ज्योतिष बिम्बों की चित्रा पृथ्वी तल से ऊँचाइयाँ कोणीय माप में बहुत कुछ सही आ जाती हैं जो आधुनिक वैज्ञानिक मान हैं।¹

त्रिलोकसार में वर्णित श्रेणिसंकलन मुख्यतः समान्तर श्रेणि तथा गुणोत्तर श्रेणि सम्बन्धी है जिनका उपयोग विभिन्न रूप से निर्मित नारकी अथवा देवों के निवासों की संख्या के संकलन में किया गया है। जटिल श्रेणि संकलन के रूप में ज्योतिर्बिम्बों की कुल संख्या लोक में प्राप्त करना रहा है। इसी प्रकार श्रेणि संकलन का प्रयोग द्वीप-समुद्रों के अंतः मध्य, बाह्य व्यास, जम्बूद्वीप के क्षेत्रफल से अन्य द्वीप समुद्रों के क्षेत्रफलों की तुलना अथवा अनेक प्रकार के इनसे सम्बन्धित संकलन में हुआ है। इस प्रकार संख्या मान एवं उपमा मान में क्रमशः विभिन्न इकाइयाँ स्थापित कर विभिन्न प्रकार राशियों का बोध प्रमाण विषयक कराया जाना द्रव्य प्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण तथा भावप्रमाण द्वारा व्यवस्थित किया गया है। सत्तात्मक राशियों के प्रमाण का इन रचनात्मक राशियों द्वारा बोध कराना आधुनिक राशि सिद्धान्त का भी विषय बनता जा रहा है।

जिसमें अल्प बहुत्व (comparability) की आधुनिक पद्धति जिनागम पद्धति से पूर्ण मेल खाती है।

3. गोम्मतसार एवं लब्धिसार आदि (आधुनिक प्रसंग में)

जहाँ त्रिलोकसार द्वारा श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कर्म सिद्धान्त में प्रयुक्त होनेवाले लोकोत्तर गणित को आधार रूप स्थापित किया, वहाँ गोम्मतसार ग्रन्थ में अनेक प्रकार के कर्म से निर्मित जीवस्थानों में मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीव-समास में पाई जानेवाली जीवराशियों का अनेक प्रकार से विवेचन देकर कर्म सिद्धान्त की नींव डाली। जीवकाण्ड में विशेष रूप से जीव में विशुद्धि से फलित होनेवाले अधःप्रवृत्त, अपूर्व एवं अनिवृत्ति करणों के गणितों को अंक-संदृष्टियों एक अर्थ-संदृष्टियों द्वारा प्रतिबुद्ध किये जाने हेतु टीकाकारों का मार्ग प्रशस्त किया।

यहीं से राशि सिद्धान्तमय गणित प्रकट होता है। आज की System Theory में जो कुछ भी गणित का प्रयोग हुआ है वह अखिल विश्व में आजतक की प्रायः सभी गणितों का एक साथ उपयोगरूप है। कर्म सिद्धान्त वस्तुतः System theory अथवा प्रणाली सिद्धान्त है जो जटिलतम प्रणाली रूप में जैनाचार्यों ने पूर्वी के इस ज्ञान में गणित द्वारा राशियों के पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए प्रस्तुत किया। इस कर्म सिद्धान्त में गणित की विभिन्न राशि सम्बन्धी कलन की विशेषता होने से सामूहिक रूप को सन्हालनेवाला गणित लगता है ताकि गुणस्थानों में हुए करण आदि परिणामों से फलित होनेवाले कर्म matrices या आव्यूहों या यंत्रों को दिग्दर्शित किया जा सके। स्पष्ट है कि मात्र शब्दों द्वारा न तो कम जगह में गणितीय न्यास रखा जा सकता है, न ही गणितीय प्रक्रियाओं से उत्पन्न विधियों को दर्शाया जा सकता है। अतः सूत्रबद्ध प्ररूपणा की टीकाओं में सर्वप्रथम ही गणित में प्रयुक्त होनेवाली सभी राशियों, प्रक्रियाओं आदि के लिए अर्थ-संदृष्टि, उससे सरल अंक-संदृष्टि तथा उससे भी सरल आकार रूप संदृष्टियाँ विकसित की गईं। आधुनिक विधियाँ यंत्रों (matrices) के क्षेत्र में बहुत आगे निकल चुकी हैं क्योंकि वे राशि अथवा समूह के समूह को गुच्छ रूप लेकर चलती हैं तथा प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न हुए फलों को यंत्रों अथवा टेन्सरो द्वारा अत्यन्त संक्षिप्त रूप में विशालतम प्रक्रियाओं को बतलाते हुए थोड़ी सी जगह में अत्यन्त जटिल ज्ञान को सरलता से प्रस्तुत कर देती हैं। अतः गोम्मतसार में पाये जानेवाले जीव सम्बन्धी न्यास (data) को (जो क्रमशः जीवकाण्ड में मात्र राशियों रूप और कर्मकाण्ड में स्थिर समय रूप बंध, उदय, सत्त्व प्रकृतियों या कर्म स्थिति रचना रूप उपलब्ध है) कम्प्यूटर में प्रोलाग भाषा में रखना होता है। टूरबो सी प्लस-प्लस में भी यह कार्य हो सकता है। किन्तु जब लब्धिसार का गतिशील समीकरण मय-विषय आता है, उसमें प्रकृति के साथ अनुभाग, स्थिति और प्रदेशों की बदलती हुई राशियाँ दिखाना एक कठिन कार्य हो जाता है। इस हेतु हमें artificial intelligence (कृत्रिम बुद्धि) कम्प्यूटर में भरने की आवश्यकता होती है, जैसी मेडिकल डायग्नोसिस, एक्सपर्ट सिस्टम या रोबोट बनाने में प्रयुक्त होती है।¹⁰ इसमें सन्देह नहीं है कि कर्म सिद्धान्त जैसी System Theory को कम्प्यूटर द्वारा सुव्यवस्थित इस रूप में किया जा सकता है कि सभी प्रकार के वैज्ञानिक इस एकसूत्री सिद्धान्त से अपने-अपने अध्ययन के क्षेत्रों में लाभ ले सकें।

इसमें सन्देह नहीं है कि इस कर्मसिद्धान्त को प्रयोग की वस्तु बनाने हेतु भागीरथ प्रयास जैन समाज को करने होंगे, क्योंकि एक तो इस जटिलतलम गणितीय सामग्री को आधुनिक वैज्ञानिक सामग्री के ज्ञान (बोध) के बिना न केवल गहराई से समझना सम्भव है वरन् उसे अध्यापन और शोध की वस्तु भी बनाना बड़ा कठिन कार्य है। प्राचीन और अर्वाचीन के बीच की कड़ी को कौन निर्मित कर सकेगा, ऐसी क्षमता न तो मात्र धनाढ्य में है न उसमें है जो इसमें रुचि ले सका हो। अतः मात्र प्रदर्शन या मात्र विवाद की वस्तु बनाकर हमने पूर्ण संतोष धारण कर लिया है कि यह हमारे पूर्वजों की विरासत में मिली निधि मात्र है जो हीरों या जवाहरातों की तरह शोभा की वस्तु या कोरे प्रयोगरहित अध्ययन की वस्तु मात्र है। प्रयोग के क्षेत्र में प्रमाणों सहित आकर ही चिर-सम्मत वस्तु सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सार्वोपयोगी बन जाती है, संभवतः इसी प्रयोजन एवं अभिप्राय को लेकर हमारे आचार्यों ने इस निधि को हमें सौंपा था परन्तु समय पर, समय होते, धन होते हुए भी हम शताब्दियों तक इसे सुन्दरतम आवरण से ढंके रहे।

हो सकता है कि धवलादि ग्रन्थों को मुनिवर्ग के अध्ययन तक ही सीमित रखा गया हो, किन्तु श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने समय की माँग को देखते हुए चामुण्डराय जैसे श्रावक के लिए 'गोम्मटसार' आदि की रचनाकर गंगा की एक नहर निर्मित करने में अपार शक्ति लगा दी थी और अब आधुनिक प्रसंग की माँग हेतु ऐसा कौन भाग्यशाली तपस्वी, योगी, संत शिरोमणि होगा जो इस कटी हुई नहर के बंद द्वार को खोलकर एक नई नहर बनाने में, इतिहास में स्वर्णाक्षरांकित होने में सफल होगा?

इस लेख में हमने गणितीय विवेचन को दूर ही रखा है ताकि वास्तविकता सहज फूल की तरह खिलकर चैत्य बोध दे सके कि विशुद्धि मात्र का गणित सम्यक्दर्शन उत्पन्न करने की ओर प्रेरणा की वस्तु बनने के स्तर तक प्रकट हो सके। यह भी देशना का एक भाग है जिसके आगे ही प्रायोग्य और करण लब्धियों से साक्षात्कार होता है, अन्यथा नहीं। सम्भवतः हम ऐसे प्रयास को सफल बनाकर भव्यों के लिए देशना का लाभ देकर अभूतपूर्व पुण्य एवं धर्म का लाभ देने में विवेकशील हो सकें।

1. प्रशियन अकादमी ऑफ साइंसेज, जनवरी 27, 1921. आइडियाज़ एक ओपिनियंस, लंदन 1956.
2. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 397।
3. आंग्ल भाषा में इन ग्रन्थों के गणित का सविस्तार विवेचन क्रमशः तीन INSA प्रोजेक्स में किया गया है, जो 1984-87, 1989-91, 1992-1996 अन्तराल में प्रस्तुत की गई हैं। साथ ही देखिए, प्रोफेसर एल.सी.जैन, ताओ ऑफ जैन साइंसेज, दिल्ली, 1992.
4. अर्हत् वचन, (इंदौर) क्रमशः 4.1, 1992; 13-20; 4.4, 1992; 12-21; 5.3, 1993; 155-171, एवं महावीर जयन्ती स्मारिका (जयपुर), 1992/3/1-6।

5. लक्ष्मीचन्द्र जैन, आगमों में गणितीय सामग्री तथा उसका मूल्यांकन, तुलसी प्रज्ञा, जैन. वि.भा., खंड 6, अंक 9, 1980।
6. L.C. Jain, The Tao of Jaina Sciences, Delhi, 1992.
7. इस विषय में जापान के प्रोफेसर काजुओ कौंडो (योत्सुकायदो नगर) ने Post R.A.A.G. पत्रिका में अनेक गहन जटिल शोधमय लेख देकर एकसूत्री सिद्धान्त बनाने में अभूतपूर्व प्रयास किये हैं।
8. (अ) Jain, L.C., On the Spiro-elliptic Motion of the Sun implicit in the Tiloyapannatti, I.J.H.S., Vol. 13, No. 1, 1978, pp. 42-49, साथ ही Lishk, S.S., Jaina Astronomy, Delhi, 1987.

(ब) 18, त्रिलोकसार।

9. Lishk, S.S.; Sharma, S.D. - The Evolution of Measures in Jaina Astronomy, Tirthankara, Vol. 1, Nos, 7-12, July-Dec., 1975, 73-92.

पुनः चीन में छाया माप द्वारा सूर्य की ऊँचाई 1,00,000 ली ज्ञात की गई। जबकि पृथ्वी की गोलाई का कोई अनुमान नहीं था। अतएव इसे 800 योजन जैन मान लेने पर योजन लगभग $9\frac{1}{11}$ मील आता है, जिससे पृथ्वी की परिधि लगभग 23,000 मील प्राप्त हो जाती है। इस तथ्य के द्वारा भौगोलिक समाग्री व तथ्यों को जिनागम के अनुसार व्यवस्थित करने सम्बन्धी शोध को बढ़ावा मिल सकता है।

10. इस संबंध में हमारे शोध-निर्देशन में एक रूसी छात्र क्रिचोव सिरगुई कार्य कर रहा है जो लाडनू की जैन विश्वभारती में Ph.D. के लिए रजिस्टर्ड रिसर्च स्कॉलर है।

हमने जो लब्धिसार, प्रस्तार रत्नावली तथा करणानुयोग के समस्त ग्रन्थों का प्रोजेक्ट इंडियन नेशनल साइंस अकादमी दिल्ली से अंग्रेजी में न्यास पूर्ण एवं प्रणाली पूर्ण कार्य विगत 12 वर्षों में प्रस्तुत किया है वह कम्प्यूटर के प्रयोग हेतु प्रायः पर्याप्त है। अतः कम से कम जैन कम्प्यूटर्स इंजीनियर्स तथा System Theory में लगे हुए जैन प्रोफेसर समूह इस न्यास तथा प्रणाली की इस सिद्धान्त सामग्री से अभूतपूर्व लाभ, पूर्वोक्त अवशेष ज्ञान को उसमें पूर्णता लाते हुए समृद्ध कर सकते हैं तथा ऐतिहासिक विलुप्त पूर्वोक्त कर्मसिद्धान्तमय सामग्री को विश्वव्यापी अहिंसा के प्रभाव का प्रसार करने में ला सकते हैं। हमारा कार्य प्रायः 10,000 पृष्ठों में है और अब इस ओर विशेषकर उन्हें अपने धन को लगाना है जिनके इसे सुरक्षित-संरक्षित रखने का शताब्दियों की आचार्य परम्परा द्वारा भार सौंपा गया था। जैन समाज का उत्तरदायित्व तभी पूर्ण हो सकता है जबकि इसे मात्र कागजों, अलमारियों, वेष्टनों अथवा ताम्रपत्रों की वस्तु बनाकर ही न असहाय छोड़ दिया जाये वरन् इसे विभिन्न श्रेणियों में अध्ययन-अध्यापन की वस्तु भी बना दिया जाये। बिना आधुनिक प्रसंग में आये इस ज्ञान में कैसे रवानी लायी जा सकती है? इतिहास साक्षी है कि इस साहित्य में सदैव आधुनिक प्रसंग में ही अध्ययन-अध्यापन का विषय

बनाया जाता रहा किन्तु कुछ शताब्दियों से इसमें अकस्मात् ढील आ गयी। वह मात्र दर्शनीय, अनुवाद या किसी छोटे से प्रसंग को लेकर विवाद की वस्तु अथवा मात्र इतिहास की वस्तु बनकर रह गयी। यदि वह जीवन के कण-कण या प्रति-पल होने वाले भाव से सम्बन्धित विज्ञान है, गणितीय प्रमाणों को लिये हुए है तो क्या वह प्रयोगों के क्षेत्र में नहीं लाया जा सकता है? किसी भी सिद्धान्त को प्रयोगान्वित किया जा सकता है, क्योंकि अब सूक्ष्मतरंगमय या कणमय तथा उनके समूह और उनकी सामूहिक शक्तिमय प्रतिक्रियाओं को प्रतिफलन आदि को शुद्ध रूप में आनुपातिक या सादृश रूप में मापे जा सकते हैं। जब आइंस्टाइन के सापेक्षता सिद्धान्त के बीजिय समीकरणोंको संख्यात्मक रूप में प्रयोगान्वित किया जा सका तो, कर्मसिद्धान्त को भी प्रयोग में लाने हेतु हमें एक ऐसे ही प्रतिभावान् प्रोफेसरों की टीम चाहिए होगी जिन्हें एक केन्द्र पर लाया जाकर इस सिद्धान्त को गणितीय विज्ञान की कसौटी पर कसने हेतु सुविधाएँ दी जायें। वस्तुतः यह आम जनता की वस्तु तो तभी बन सकेगी जबकि विद्वानों का यह दल प्रयोगों द्वारा पुष्ट करेगा कि कौनसी कर्मप्रकृति स्थितियों, अनुभागों और प्रदेशों के आब्यूहों को लिये हुए विभिन्न प्रकार की शंकाएँ समाधान कर सकेगी। गणित के बिना जो भी विवाद प्रस्तुत किये जाते हैं उनका परिणाम व्यर्थ-जाता है और कटुता का रूप लेता चला जाता है। बड़े-बड़े भवनों का निर्माण भी, यदि उनमें ऐसे सामयिक रूप ज्ञान को मात्र-प्रदर्शन के रूप में रख लेना भी निष्फल होने की दिशा में बढ़ना होता है।

दीक्षा ज्वैलर्स,
554 सराफा, जबलपुर-2
गणित विभाग, मानस गंगोत्री,
मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर-6

